प्रथम अध्याय
आधुनिक हिन्दी कविता में गांधीवादी दर्शन और भवानीप्रसाद मिश्र का कृतित्व

(क) गांधीवादी दर्शन के मूल पक्ष :

'गांधीवाद' महात्मा गांधी के जीवन दर्शन के लिए सर्वाधिक प्रचलित तथा सर्वमान्य शब्द है। गांधीवाद समाज के हित का वह दर्शन है जिसके प्रधान पुरस्कर्त्ता और प्रयोगकर्त्ता गांधीजी हैं। परन्तु स्वयं गांधीजी को 'गांधीवाद' शब्द स्वीकार नहीं था, क्योंकि उन्होंने किसी नई विचारधारा, जीवन-दर्शन या तत्त्वदर्शन का प्रतिपादन नहीं किया था। वे अपने को किसी वाद या संप्रदाय का प्रवर्तक नहीं मानते थे। उन्होंने लिखा है, "गांधीवाद जैसी कोई चीज मेरे दिमाग में नहीं है। मैं कोई संप्रदाय प्रवर्तक नहीं हूँ। तत्त्वज्ञानी होने का मैंने कभी दावा नहीं किया है, मेरा यह प्रयत्न भी नहीं रहा है।"[1] अपने जीवन में गांधीजी ने कोई वाद या दार्शनिक मत नहीं खड़ा किया। उनकी विचार प्रणाली दुनिया की तमाम विचारधाराओं के उत्तम का संकलन है। भारतीय धर्म, अध्यात्म और साधना में जो श्रेष्ठ तत्त्व है, गांधीजी ने उनको अपने अनुभव और कर्म के आधार पर परखा है। जब तक कोई आदर्श, मूल्य या सिद्धांत उनकी अपनी विवेक की कसौटी पर खरा नहीं उतरता था, तब तक वे उसे नहीं मानते थे और न ही उसका समर्थन करते थे। हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार, "गांधीवाद महात्मा गांधी की विचार-पद्धति का व्यापक नाम है।"[2] अपनी दैनिक साधना के मध्य से गुजरते हुए गांधीजी ने समाज, शासन और जीवन के विविध पक्षों के बारे में अपने विचारों को प्रकट किया। मार्क्सवाद के समान कोई व्यवस्थित शास्त्रीय अध्ययन न होने के कारण उनकी विचारधारा में तर्कजन्य पद्धति का अभाव है। इस विचारधारा का आधार स्वानुभूति है, तर्क नहीं। गांधीवादी विचारधारा का प्रत्येक खंड आत्मशक्ति को लेकर चलता है। इसलिए इसमें आध्यात्मिकता और विचारों की स्वतंत्रता है।

गांधीवाद कोई नया दर्शन नहीं बल्कि जीवन पद्धति भी है, जिसमें विचारों के कार्यान्वयन पर विशेष बल है। गांधीजी ने अपने विचारों के लिए कभी मौलिकता का दावा नहीं किया। वे हमेशा यही दोहराते रहे कि उन्होंने धर्मग्रन्थों को जाँच-परख कर अपने जीवन में उतारा और सामाजिक प्रश्नों पर उन्हें लागू किया। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए

'हिन्द स्वराज' की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है, "जो विचार मैंने प्रकट किए हैं वे मेरे हैं और मेरे नहीं हैं। मेरे हैं क्योंकि उनके अनुसार आचरण करने की मुझे आशा है; वे मेरे अन्तर में बस से गए हैं। मेरे नहीं हैं क्योंकि मेरे ही दिमाग में उपजे हों सो बात नहीं है। वे कितनी ही पुस्तकें पढ़ने के बाद बने हैं। मन जिस बात को अपने अन्तर में अनुभव कर रहा था उन्हें पुस्तकों का सहारा मिल गया।"[3] गांधीदर्शन में विचारों की विविधता है। महात्मा गांधी समन्वयकारी थे। इसलिए उन पर अनेक पाश्चात्य और भारतीय विचारकों का प्रभाव पाया जाता है। पाश्चात्य स्रोतों में बाईबिल के प्रवचन, टॉलस्टाय, जॉन रस्किन तथा थोरो की रचनाएँ प्रमुख हैं। भारतीय स्रोतों में वैदिक साहित्य, गीता, रामायण, महाभारत, रामचरितमानस, बौद्ध और जैन ग्रन्थ तथा मध्ययुगीन संतों की वाणियाँ प्रमुख हैं। इसके अलावा उन्होंने इस्लाम और चीनी धर्मग्रन्थों, कुरान और कन्फुशियस का भी अध्ययन किया था। इस प्रकार गांधीवादी दर्शन की मूल चेतना में पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों का सुन्दर समन्वय मिलता है।

महात्मा गांधी मूलतः अपने युग के सभी प्रमुख धर्मों से प्रभावित थे, जिनमें बौद्ध, जैन, वैष्णव और ईसाई धर्म का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। जैन धर्म से उन्होंने अहिंसा का मंत्र ग्रहण किया। वैष्णव धर्म से गांधी ने राम-राज्य की परिकल्पना तैयार की। ईसाई धर्म से गांधी ने अन्याय के आगे न झुकने का संकल्प ग्रहण किया और ईसाई धर्म से ही गांधीजी ने यह सीखा कि मानव होने के नाते सृष्टि के किसी भी मानव को अपना दुश्मन समझने का अधिकार नहीं है। संसार के सभी मनुष्य बराबर हैं। वे गीता के कर्मयोग के परम भक्त थे। कर्म से सन्यास को वे पलायन मानते थे और जगत् के त्याग की अपेक्षा जगत् के प्रति समर्पण को ऊँचा मूल्य मानते थे। टॉलस्टाय से प्रभावित होकर गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में फिनिक्स आश्रम की स्थापना की। जिस तरह टॉलस्टाय धर्म को सम्पूर्ण जीवन का मूलाधार स्वीकार करते हैं, उसी तरह धर्म के बगैर जीवन गांधीजी के लिए कल्पना से परे है। परंतु गांधीजी का यह धर्म किसी भी धर्म के खिलाफ नहीं जाता है। इसे हम मानवतावाद भी नहीं कह सकते बल्कि यह सभी धर्मों के बीच समन्वय का मार्ग अपनाने वाला मिश्रित धर्म है जिसमें मानवीय उदारता प्रमुख है।

गांधीजी के सम्पूर्ण नीति प्रधान तत्त्वज्ञान में आध्यात्मिकता की प्रधानता है। उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टि को विस्तार देते हुए सत्य, अहिंसा, शांति, सहिष्णुता आदि नैतिक मान्यताओं को राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए व्यापक स्तर पर ग्रहण किया।

गांधीजी के विचार संचय और व्यवहार की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं जो इस प्रकार हैं –

(i) गांधीजी जटिलता की अपेक्षा सरलता को अधिक महत्त्व देते थे। सरलता की यह विचारधारा उनको प्रकृति के अनुरूप विचारधारा की ओर ले जाती है।

(ii) गांधीवादी विचारधारा इस गहन आस्था पर आधारित है कि सत्ता न केवल प्राकृतिक व्यवस्था है, अपितु नैतिक व्यवस्था भी है। समस्त गांधी दर्शन नैतिक आदर्शों से परिव्याप्त है। इसलिए महात्मा गांधी अपनी स्वतंत्रता की अवधारणा को साधनों की श्रेष्ठता के रूप में समृद्ध करके संतुष्ट थे।

(iii) गांधीवादी विचारधारा में सत्ता को सम्पूर्णतः आध्यात्मिक माना जाता है।

इस प्रकार गांधीवाद एक व्यापक जीवन दर्शन है। इसका आविर्भाव ऐसे समय हुआ जब महायुद्ध के पश्चात साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन एक नई मंजिल पर पहुँच चुका था, जब भारत की सामान्य जनता राजनीतिक कार्रवाइयों में भाग लेने लगी थी, जब युद्ध के समय भारतीय जनता अवर्णनीय आर्थिक विनाश की शिकार थी, जब देश में साम्राज्यविरोधी भावनाओं का ज्वार-सा आ गया था। जब महात्मा गांधी को राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने का अवसर मिला तो उन्होंने न केवल इस आन्दोलन को व्यावहारिक रूप प्रदान किया, बल्कि भारत को विदेशी दासता के चंगुल से मुक्त कराने के लिए अपने कुछ सिद्धान्तों को भी व्यावहारिक रूप प्रदान करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की। उनका आन्दोलन वैचारिक तथा व्यावहारिक दोनों धरातलों से जुड़ा था। उन्होंने जिन दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, पहले स्वयं उन्हें प्रयोग की कसौटी पर कस कर देखा। साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में गांधीजी ने सत्याग्रह, असहयोग, सविनय अवज्ञा, प्रदर्शन और बहिष्कार जैसे शक्तिशाली अस्त्रों का प्रयोग किया। इन साधनों के बल पर उन्होंने स्वाधीनता आन्दोलन के स्वरूप को बदल दिया। गांधीजी के समस्त क्रियाकलापों – चरखा, अछूतोद्धार, स्वदेशी आन्दोलन, ग्रामोत्थान आदि – का एकमात्र उद्देश्य स्वराज की एकनिष्ठ साधना थी। अस्त्र-शस्त्र से सम्पन्न विदेशी सत्ता को अहिंसात्मक असहयोग के द्वारा पराजित कर भारत को स्वतंत्र करा देना उनकी ऐसी उपलब्धी है, जिसका उदाहरण विश्व इतिहास में दुर्लभ है।

गांधीवादी दर्शन को सम्यक् रूप से हृदयांगम करने के लिए गांधी वाङ्मय का विशाल साहित्य देश एवं विदेश में प्रकाशित हो चुका है, जो गांधीवाद की व्यापकता को समझने का मुख्य स्रोत है। इसके अलावा विनोबा भावे, गोपीनाथ धवन, जैनेन्द्र, रोमां रोलां, किशोरीलाल घ. मशरूवाला आदि गांधीवादी चिंतकों द्वारा रचित पुस्तकें भी पठनीय हैं।

गांधीवाद के मूल तत्त्व सत्य, अहिंसा एवं ब्रह्मचर्य हैं। ये तत्त्व गांधीवादी दर्शन के विचारपक्ष के मूलाधार हैं। इन्हीं के आधार पर महात्मा गांधी ने सत्याग्रह रूपी अस्त्र का व्यावहारिक प्रयोग किया। इस प्रकार गांधीवादी दर्शन की मुख्य विशेषता है चिंतन और

व्यवहार। सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य चिंतन पक्ष के अन्तर्गत आते हैं। ये गांधीवादी दर्शन के त्रिरत्न हैं प्रथम दो तत्त्वों के विषय में हरिजन पत्रिका में गांधीजी ने लिखा है, "मेरा दर्शन जिसे आपने गांधीवाद का नाम दिया है सत्य और अहिंसा में निहित है।"[4] गांधीजी ने सत्य और अहिंसा का जीवन के विविध क्षेत्रों में सामाजिक प्रयोग किया पर ब्रह्मचर्य उनके वैयक्तिक जीवन तक ही सीमित रहा। इसके बावजूद गांधी दर्शन का मूल आधार यही है। गांधीजी ने सत्य और अहिंसा के सफल प्रयोग ब्रह्मचर्य के बल पर ही किये थे। सारांशतः सत्य, अहिंसा एवं ब्रह्मचर्य के आधार पर ही उन्होंने समग्र राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के विषय में सोचा।

गांधीवादी दर्शन अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत है। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं – व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्रीयता – जिसको गांधीजी के व्यक्तित्त्व ने स्पर्श न किया हो। गांधीजी के व्यक्तित्त्व के अनेक पक्ष थे। वे धर्मोपदेशक, राजनेता, समाज सुधारक, अर्थवेत्ता शिक्षाशास्त्री और मानवतावादी थे। इस आधार पर अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से गांधीवादी दर्शन के मूल पक्षों को निम्न शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है :

(i) गांधीवादी धर्म-दर्शन

(ii) गांधीवादी सामाजिक-राजनीतिक दर्शन

(iii) गांधीवादी आर्थिक दर्शन

(iv) गांधीवादी शिक्षा-दर्शन

(v) गांधीवादी मानव-मूल्य और विश्व-दृष्टि

(i) गांधीवादी धर्म-दर्शन :

भारतीय दार्शनिकों की विचार पद्धति की भाँति महात्मा गांधी की विचार पद्धति में भी धर्म की अहम् भूमिका रही है। उनके राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आदि सभी तरह के कार्यों के मूल में धर्म ही है। धर्म उनके जीवन का प्राण तत्त्व है। धर्म के अभाव में वे जीवित रहने की कल्पना भी नहीं करते। परंतु धर्म से उनका अभिप्राय हिन्दू, इस्लाम, जैन आदि धर्म से नहीं है। उनके लिए मानव की निष्काम सेवा ही सबसे बड़ा धर्म था। उनका मानना था कि धर्म पर चढ़े मिथ्या आवरण का सफाया होकर उसके विशुद्ध रुप से नाता जुड़ जाए तो धरती पर सत्य अधिष्ठित पवित्र धर्म का बोलबाला हो जाए।

महात्मा गांधी के धर्म की कोई भौगोलिक सीमा नहीं है। उनका धर्म आत्मा को शुद्ध करता है। सत्य, प्रेम, करुणा, सेवा, संयम और सदाचार इसकी नींव हैं। उनका प्रेरक धर्म संकुचित एवं रूढ़ न होकर उदार है। उनका मत है, "मेरे धर्म में ईश्वर के दीन-से-दीन प्राणियों के लिए स्थान है। लेकिन यह उद्धतता और जाति, धर्म तथा रंग के गर्व को सहन

नहीं करता।"[5] गांधीजी दरिद्रनारायण के उपासक हैं और परोपकार को धर्म मानते हैं। उनके लिए धर्म बुद्धि और तर्क का नहीं बल्कि हृदय का और अनुभव का विषय है। उनकी धर्म साधना में सत्य और अहिंसा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।

गांधीजी के धर्म का केन्द्रबिंदु नैतिकता है। उनके लिए धर्म से तात्पर्य विश्व की नैतिक व्यवस्था में विश्वास है। वे नैतिक मूल्यों को रूढ़िगत परम्पराओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे। जवाहरलाल नेहरू ने उनकी धार्मिक विचारधारा पर टिप्पणी करते हुए लिखा है - "गांधीजी वास्तव में धार्मिक पुरुष थे तथा अपने हृदय के गहनतम स्तर पर हिन्दू थे, फिर भी धर्म के विषय में उनके विचार किसी शास्त्रोक्त सिद्धांत, आचार एवं विधि-विधानों से सम्बन्धित नहीं थे। यह मूलतः नैतिक नियमों में उनके दृढ़ विश्वास से सम्बन्धित था।"[6] हिन्दू धर्म में उनकी गहरी आस्था है, पर यह आस्था न ग्रन्थ-कीट पण्डितों की तरह है और न ही आँख मूँद कर किसी भी उचित या अनुचित तथ्य पर विश्वास करने वाले विचारहीन भक्तों की तरह है। उनकी धर्मचेतना उन्हीं के विवेक और तर्कों से नियंत्रित है। उनका विश्वास था कि सभी धर्म सच्चे हैं, पर वे उन्हें नितांत त्रुटिहीन नहीं मानते थे। धर्मों की सृष्टि मानव द्वारा की गई है। अत: मानव की अपूर्णताएँ उनमें भी समाविष्ट हैं। वे ईश्वर की साम्प्रदायिक धारणाओं से मुक्त हैं। उन्होंने 'ईश्वर अल्लाह तेरे नाम' को स्वीकार कर आंतरिक सत्ता की एकता में आस्था व्यक्त की है। उसे पाने के लिए वे सृष्टि से तादात्म्य होने में विश्वास करते हैं - "ईश्वर को प्राप्त करने का एक ही उपाय है कि उसे उसकी सृष्टि में देखा और उसके साथ एकाकार हुआ जाए।"[7] इतना ही नहीं वे कहते हैं -"मेरे प्रभु के हजारों रूप हैं। कभी मैं उसका दर्शन चर्खे में करता हूँ तो कभी साम्प्रदायिक एकता में और कभी अस्पृश्यता निवारण में और कभी रोगियों और दुखियों की सेवा में।"[8] यही कारण है कि महात्मा गांधी को विश्व के सभी महान धर्मों के बुनियादी सिद्धांतों में आस्था है। वे धर्म परिवर्तन में विश्वास नहीं रखते। उनके आश्रम में मुसलमान ईसाई और पंडित सभी थे पर गांधीजी ने उन्हें हिन्दू बनाने का प्रयास कभी नहीं किया। उनका मानना था कि व्यक्ति के लिए धर्म परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें अपने धर्म में बने रहकर अपने धर्म के ही बुनियादी सिद्धांतों के अनुसार कार्य करते रहना चाहिए।

गांधीजी को वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था मान्य थी, किन्तु उसका रूढ़ अथवा विकृत रूप नहीं। वे धर्म के विशुद्ध रूप में ही वर्णाश्रम धर्म के पक्षपाती थे। आत्मशुद्धि के लिए उन्होंने मूर्तिपूजा और प्रार्थना जैसे बाह्याचारों को भी स्वीकार किया था। 'दिनकर' के शब्दों में "गांधीजी का धर्म न तो कोई एक धर्म है, न वह विश्व के प्रचलित धर्मों से भिन्न है। सभी धर्म जहाँ से उत्पन्न होते हैं, गांधीजी उस उत्स के सामने खड़े थे और सभी धर्म मनुष्य को

जहाँ ले जाना चाहते हैं; गांधीजी उस मंजिल के पास भी थे। वस्तुतः गांधीधर्म वह धर्म है, जिससे प्रत्येक धर्म की धार्मिकता में वृद्धि होती है।"[9] गांधीजी ने सच्चे, श्रेष्ठ और आदर्श मानव के गुणों को अपने 'एकादश-व्रत' में ग्रहण किया। उनकी दृढ़ आस्था थी कि मानवतावाद की स्थापना के लिए इन व्रतों का पालन अनिवार्य है। उन्होंने युगानुकूल वर्णाश्रम व्यवस्था के पालन पर बल दिया तथा साम्प्रदायिक भेदभावों को समाप्त कर धार्मिक एकता की स्थापना की। उनके अनुसार हिन्दू, मुसलमान, सिख और ईसाई परस्पर भाई-भाई हैं। इस प्रकार गांधीजी का धर्म-दर्शन उदारवादी है। उनके धर्म-दर्शन सम्बन्धी दृष्टिकोण को निम्नांकित शीर्षकों के अंतर्गत देखा जा सकता है –

क. एकादश-व्रत, ख. वर्णाश्रम धर्म और ग. सर्वधर्म समभाव।

(क) एकादश व्रत :

महात्मा गांधी ने शरीर और मन को पूर्णतया नियंत्रित करने के उद्देश्य से अपने अनुयायियों को एकादश व्रत पालन करने का आदेश दिया। व्रत का अर्थ है अटूट निश्चय। यह अटूट निश्चय आदमी को मोह से बचाता है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अभय, अस्तेय, अपरिग्रह, अस्वाद, शरीर श्रम, स्वदेशी, अस्पृश्यता निवारण और सर्वधर्म समभाव आदि एकादश व्रतों का गांधीजी के आश्रम में कड़ाई से पालन किया जाता था।

1.सत्य :

सत्य गांधीदर्शन की आधारशिला है। गांधीजी का यह दृढ़ विश्वास था कि सत्य के बिना किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। 'सत्य' शब्द 'सत्' से निष्पन्न है। 'सत्य' शब्द का मूल अर्थ 'अस्ति होने का भाव' है। सत्य के सिवाय संसार में किसी भी चीज की सत्ता नहीं है। सत्य का दूसरा नाम ईश्वर है इसलिए ईश्वर का सच्चा नाम सत्य है। 'सत्य' अर्थात् 'सत्' का अर्थ भला भी होता है, क्योंकि जो सत्य है वही दूर की दृष्टि में हितकारक अथवा भला है। सत्य हमेशा हित का समर्थक होता है इस हितकर सत्य की खोज ही सच्ची भक्ति है। इसलिए सत्य की खोज मानव मात्र की सेवा करते हुए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में करनी चाहिए। "सत्य का सम्पूर्ण दर्शन देह द्वारा नहीं हो सकता – असंभव है। क्षणभंगुर देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार होना संभव नहीं है।"[10] गांधीजी के अनुसार शुद्ध सत्य को पाने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य का अंत:करण जिसे सत्य समझता है उसी आपेक्षिक सत्य के अनुसार जीवन यापन करने का प्रयास करे। तर्क के बल पर न सत्य को पाया जा सकता है न सत्य के निकट पहुँचा जा सकता है। जहाँ तर्क होता है वहाँ सत्य नहीं होता।

गांधीजी के बारे में यह प्रसिद्ध है कि उनके उत्तर अनुभूत सत्य से अनुप्राणित होते थे। तर्क उनके सत्य का अनुयायी मात्र था।

सत्य के अन्वेषक में सहिष्णुता का होना अत्यंत आवश्यक है। सत्य को ढूँढ़ने वाले को इतना विनम्र होना चाहिए कि उसके पदों के धूलकण भी उसे रौंद सकें। तभी उसे सत्य के दर्शन हो सकते हैं। सत्य को पाने के लिए अपने वजूद को दाँव पर लगाना होता है। "जिस व्यक्ति में विनम्रता कूट-कूट कर न भरी हो, उसे सत्य नहीं मिल सकता। यदि तुम्हें सत्य के सागर में तैरना है, तो तुम्हें अपनी हस्ती को पूरी तरह मिटा देना होगा।"[11] सत्य के मार्ग पर चलने से क्रोध, स्वार्थ, घृणा आदि विकार स्वत: छूटते जाते हैं। "सत्य एक विशाल वृक्ष की तरह है। आप जितना उसका पोषण करेंगे उतने ही ज्यादा फल वह देगा। सत्य की खान को जितना ही गहरा खोदेंगे, सेवा के नये-नये मार्गों के रूप में यह उतने ही अधिक हीरे-जवाहरात देगा।"[12] जब तक मनुष्य के हृदय में वासनाएँ रहती है तब तक नीयत साफ रहने पर भी वह सत्य को नहीं पा सकता। सत्य प्राप्त होने पर मनुष्य प्रेम-घृणा, सुख-दुख आदि के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। भिन्न-भिन्न लोगों के लिए सत्य परस्पर भिन्न और विरोधी हो सकता है। जो एक व्यक्ति के लिए सत्य होगा, वह दूसरे के लिए असत्य हो सकता है। गांधीजी के लिए सत्य सर्वोच्च सिद्धांत है, जिसमें अनेक सिद्धांत समाविष्ट है। यह सत्य केवल वाणी का नहीं बल्कि विचारों का भी है।

सत्य की प्राप्ति का मार्ग तलवार की धार के समान होता है, जिस पर चलने वाला जरा सा चुकते ही जान गँवा बैठता है। निरंतर अभ्यास के द्वारा ही सत्य रूपी पारसमणि को पाया जा सकता है। सत्य को पाने का शुद्धतम साधन अहिंसा है। अहिंसा के अभाव में सत्य की अनुभूति संभव नहीं है। अहिंसा साधन है और सत्य साध्य। "सत्य का सर्वांग दर्शन वही कर सकता है जिसने अहिंसा को पूरी तरह अपना लिया है।"[13] गांधीजी सत्य के लिए अहिंसा का बलिदान कर सकते हैं, लेकिन सत्य का त्याग किसी भी वस्तु के लिए नहीं कर सकते। उनकी राजनीतिक आकांक्षाओं में असत्य और धोखाधड़ी के लिए कोई स्थान नहीं है। सत्य की विजय के लिए महात्मा गांधी अपने प्राणों को न्योछावर करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। इस प्रकार महात्मा गांधी का सत्य से आशय वह नहीं है जो हम सामान्यतया समझते हैं। सत्य से उनका आशय यह है कि हमें जीवन को हर कीमत पर सत्य के नियम के अनुसार चलाना है। उनका मानना है - "सत्य ईश्वर का सही नाम है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने ज्ञान के अनुसार सत्य का पालन करे, तो उसमें कुछ भी बेजा नहीं है।"[14] अपने इस सत्य को परिभाषित करने के लिए गांधीजी ने प्रहलाद के दृष्टांत को आदर्श माना है। सत्य की रक्षा के लिए प्रहलाद अपने पिता और उनके अनुचरों द्वारा दी गई

यातनाओं का प्रतिकार किए बिना अपने प्राण देने के लिए तैयार हो गए। यदि यातनाएँ झेलते-झेलते उनके प्राण भी चले जाते तो भी वे सत्य पर दृढ़ रहते। यही वह सत्य है जिसकी बात महात्मा गांधी करते थे।

सारांशत: सत्य के पुजारी महात्मा गांधी का जीवन सत्य की साधना का था। उनका सत्य किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय का पर्याय न होकर इतना व्यापक है कि उसमें संसार के समस्त धर्मों का समाहार हो जाता है। उनका सत्य का सिद्धांत शाश्वत सिद्धांत है जो विश्व की संरचना को शासित करता है और इसके समस्त घटनाचक्र के पीछे विराजमान है।

2..अहिंसा :

गांधीजी की अहिंसा उनकी कोई नई देन नहीं है। भारतीय सभ्यता का सार अहिंसा व्यक्तित्व के सद्गुण के रूप में पुरातन काल में भी प्रचलित थी। गौतम बुद्ध, महावीर, ईसा मसीह आदि धर्म प्रवर्तकों ने भी अहिंसा का उपदेश जनता को दिया है। लेकिन महात्मा गांधी ने इसे व्यापक एवं सार्वजनिक रूप प्रदान कर उसका क्षेत्र विस्तृत किया है। उनकी अहिंसा अपने व्यापक परिवेश में नैतिक एवं बौद्धिक अहिंसा को भी स्थान देती है।

'अहिंसा' का शाब्दिक अर्थ है - 'न मारना'। लेकिन गांधीजी की दृष्टि में इसके हजारों अर्थ हैं जो उन्हें अनंत ऊँचाई के दर्शन कराते हैं। अहिंसा का वास्तविक आशय है किसी को कष्ट न पहुँचाना। जो व्यक्ति हमें अपना शत्रु समझता है उसके लिए भी हमें अपने मन में द्वेष की भावना नहीं लानी चाहिए। "अहिंसा के सिद्धांत का भंग, हर बुरे विचार से, अनुचित जल्दबाजी से, झूठ बोलने से, घृणा से और किसी का बुरा चाहने से होता है। दुनिया के लिए जो वस्तु जरूरी है उस पर अधिकार जमाने से भी सिद्धांत भंग होता है।"[15] जो व्यक्ति इस सिद्धांत में विश्वास रखता है, वह किसी को अपना शत्रु नहीं मानता। अपने किसी मित्र या शत्रु की कार्रवाई का बुरा मानना भी हिंसा है। बुरा न मानने से गांधीजी का आशय यह है कि हम यह कामना न करें कि शत्रु का किसी तरह का अपकार हो। दैवीय घटना के फलस्वरूप भी नहीं। यदि हम ऐसी कामना करते हैं तो यह अहिंसा के सिद्धांत से विचलित होना है। महात्मा गांधी से पहले अहिंसा का सम्बन्ध किसी जीव के प्राण न लेने तक सीमित था। गांधीजी ने अहिंसा को नये आयाम प्रदान किये। महात्मा गांधी के अनुसार - "अहिंसा का अर्थ जैसा मैं समझता हूँ यही है कि मन, वचन और कर्म से किसी के दिल या शरीर को चोट न पहुँचाई जाये। जब कोई आदमी किसी की हिंसा को सह लेता है या उसमें सहायता देता है, तब मैं उसके कार्य को अहिंसा नहीं, निकृष्ट प्रकार की हिंसा कहता हूँ।"[16] गांधीजी के लिए सत्य और अहिंसा एक ही सनातन वस्तुओं के दो नाम हैं। वे लिखते हैं - "अहिंसा मेरा ईश्वर है और सत्य मेरा ईश्वर है। जब मैं अहिंसा को खोजता हूँ तब सत्य कहता है, 'मेरे

द्वारा अहिंसा का पता लगाओ।' जब मैं सत्य का पता लगाना चाहता हूँ तब अहिंसा कहती है, 'मेरे द्वारा सत्य का पता लगाओ'।"[17] अर्थात् दोनों की स्थिति एक दूसरे के बिना संभव नहीं है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यदि सत्य साध्य है तो अहिंसा उसकी प्राप्ति के लिए साधन है।

गांधीजी ने हिंसा और अहिंसा को बहुत बारीकी से परखा है। हिंसा को कमजोरों का हथियार बताते हुए उन्होंने कहा कि हिंसा को वे लोग अपनाते हैं जिन्हें मारे जाने का भय है, जिन्हें अपने नुकसान से भय लगता है, जो किसी का मुकाबला नहीं कर सकते और जो अन्याय के बल पर शासन करना चाहते हैं। सच्चा अहिंसक भीतर से अत्यंत शक्तिशाली होता है, वह सहनशील होता है। वह वार सह सकता है, वार करता नहीं है। गांधीजी की इस अहिंसा में कायरता और कमजोरी के लिए कोई स्थान नहीं है। गांधीजी कायरता से घृणा करते थे। उन्होंने कहा है कि कायरता और हिंसा में से किसी एक को चुनना पड़े तो वे हिंसा का चुनाव करेंगे। इस स्थिति में हिंसा को बेहतर बताते हुए वे कहते हैं – "मेरा पक्का विश्वास है कि जहाँ केवल कायरता और अहिंसा में से किसी एक का चुनाव करना है, वहाँ मैं हिंसा को चुनूंगा.....कायर की भाँति, अपने अपमान का विवश साक्षी बनने की अपेक्षा अपने सम्मान की रक्षार्थ शस्त्र उठा लेना मैं ज्यादा अच्छा समझूंगा।"[18] गांधीजी की अहिंसा शुद्धता और स्वच्छता पर आधारित है। इसमे घृणा, द्वेष, हिंसा आदि तत्त्वों के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है। गांधीजी की यह धारणा थी कि प्रत्येक कार्य में कुछ-न-कुछ हिंसा तो है ही इसलिए मानव को कम-से-कम हिंसा का मार्ग ढूँढ़ना चाहिए। आवश्यकताओं से अधिक समाज की वस्तुओं का संचय करना भी हिंसा है। अविनय, अहंकार भी हिंसा के अंतर्गत आते हैं। असत्य बोलने से सत्य की हिंसा होती है, चोरी करने से दूसरे के श्रम की हिंसा होती है। अधिक संग्रह करने से दूसरे के हिस्से की हत्या होती है। अहिंसा दूसरे के अस्तित्व का उतना ही सम्मान करती है जितना की कोई अपने अस्तित्व का सम्मान करता है। इस प्रकार गांधीजी ने हिंसा के मुकाबले अहिंसा को अधिक व्यापक, अधिक ताकतवर और अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया है।

हिंसा का पालन करने वाला स्थायी शांतिपूर्ण व्यवस्था नहीं दे सकता। हिंसा की राह पर चलकर मिली हुई व्यवस्था कई बुराइयों को जन्म देती है। जबकि अहिंसा व्यवस्था का स्थायी समाधान देती है। लम्बे समय तक शांति स्थापित करने की शक्ति अहिंसा में ही है और अहिंसा कम-से-कम मानवीय दोषों को पैदा करती है। गांधीजी के अहिंसा का सिद्धांत मुख्यत: नैतिक मूल्यों पर आधारित और धर्म प्रधान है, जिसमें जड़-चेतन सभी के लिए प्रेमभाव है। गांधीजी ने अहिंसा के चार मूल तत्त्व स्वीकार किए हैं – प्रेम, धैर्य, अन्याय का विरोध और वीरता।

(अ) गांधीजी की अहिंसा का मूल अधार और प्राणतत्त्व प्रेम है। अपने शुद्धतम रूप में अहिंसा का अर्थ है – अधिकतम् प्रेम और अधिकतम् उदारता।

(आ) अहिंसा का दूसरा तत्त्व धैर्य है। यदि अहिंसा के पथ पर चलनेवाले को शीघ्र सफलता नहीं मिलती तो वह निराश नहीं होता। उसे विश्वास होता है कि अंत में उसे सफलता अवश्य मिलेगी। इसलिए वह धैर्यपूर्वक अपने पथ पर अग्रसर होता है।

(इ) अहिंसा का तीसरा तत्त्व अन्याय का विरोध है। अहिंसा का सिद्धांत हमें यह सिखाता है कि न तो किसी के अन्याय को सहन करो और न अन्याय करने वाले के साथ विद्वेष करो।

(ई) गांधीजी की अहिंसा का चौथा मूल तत्त्व वीरता है। वे अहिंसा को निर्बलों और कायरों का अस्त्र नहीं बल्कि शक्तिशाली, सबल, साहसी और वीर पुरुषों का गुण मानते हैं। अहिंसा के पालन में तलवार चलाने की अपेक्षा अधिक वीरता की आवश्यकता होती है।

वस्तुत: गांधीजी की अहिंसा बेजोड़ एवं अद्वितीय है। उन्होंने अहिंसा के परम्परागत तत्त्वदर्शन का नव संस्करण किया है। 'अहिंसा' शब्द गांधीवाद का निचोड़ है। यह एक शब्द गांधी दर्शन का जितना प्रतिनिधित्व करता है , उतना उनके सारे उपदेश मिलकर भी नहीं कर पाते। उन्होंने अहिंसा को व्यक्तिगत साधना के संकीर्ण क्षेत्र से निकाल कर सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में अन्याय के प्रतिकार का अस्त्र बनाया।

3.ब्रह्मचर्य :

गांधीजी के प्रमुख सिद्धान्तों में ब्रह्मचर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। महात्मा गांधी का ब्रह्मचर्य किताबों से नहीं लिया गया है। उन्होंने अपने और अपने आग्रह पर इस प्रयोग में सम्मिलित होने वाले अपने साथियों के लिए मार्गदर्शक नियम स्वयं बनाये। गांधीजी के अनुसार, "जैसे अहिंसा के बिना सत्य की सिद्धि संभव नहीं है, वैसे ही ब्रह्मचर्य के बिना सत्य अथवा अहिंसा दोनों की सिद्धि असंभव है।"[19] ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ है कामलिप्सा का संयम या जननेन्द्रिय विकार का निरोध। परन्तु गांधीजी के अनुसार, "ब्रह्मचर्य का पूरा और सही अर्थ है – ब्रह्म की खोज। ब्रह्म प्रत्येक जीव में व्याप्त है, इसलिए इसे अपनी अंतर्रात्मा में गोता लगाकर और सिद्धि के द्वारा खोजा जा सकता है। अंतर्रात्मा की सिद्धि इन्द्रियों पर पूरा नियंत्रण पाए बिना संभव नहीं है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ हुआ अपनी सभी इन्द्रियों पर सदैव एवं सर्वत्र मनसा, वाचा, कर्मणा नियंत्रण।"[20] अर्थात् मन, वचन और कर्म से इन्द्रियों का शमन ही ब्रह्मचर्य है। वास्तव में गांधीजी ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ ब्रह्म की सहायक चर्या ही मानते थे। उनके अनुसार ब्रह्मचर्य एक ऐसी जीवन पद्धति है जो हमें ब्रह्म से मिलाती है। ब्रह्मचर्य के सही ढंग से पालन का अर्थ है – ब्रह्म दर्शन। ब्रह्मचर्य पालन

में प्रजनन क्रिया पर पूरा नियंत्रण सम्मिलित है। जब तक मन पूर्णतया इच्छाशक्ति के वश में नहीं हो जाता तब तक पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्राप्ति संभव नहीं है। "अनैच्छिक विचार मन की प्रवृत्ति है, इसलिए विचार पर नियंत्रण पाने का मतलब है मन को नियंत्रित करना जो वायु को नियंत्रित करने से भी अधिक कठिन है।"[21] यह नियंत्रण मन, वचन और कर्म से होना चाहिए। अगर मन नियंत्रित न हो तो वाणी और कर्म पर नियंत्रण पाने का कोई मूल्य नहीं है। जो मन पर नियंत्रण कर सकता है उसके लिए वाणी और कर्म पर नियंत्रण कोई कठिन कार्य नहीं है। गांधीजी की धारणा थी कि ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला स्वस्थ्य और दीर्घजीवी होता है। उसके चेहरे पर अलौकिक तेज दिखाई पड़ता है और आलस्य उसके आसपास भी दिखाई नहीं पड़ता। इस ब्रह्मचर्य को वही पा सकता है जो अपनी इच्छाओं का दमन कर सके।

लोगों की धारणा है कि काम वासना पर नियंत्रण ही ब्रह्मचर्य का पालन है पर यह धारणा अधूरी और गलत है। ब्रह्मचर्य का अर्थ सभी इन्द्रियों का नियंत्रण है। केवल एक इन्द्रिय को नियिंत्रत कर शेष को मनमानी करने देना, ठीक वैसा ही है जैसे आग में घी डालकर बचने की कोशिश करना। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को सभी इन्द्रियों को नियंत्रित करने का दृढ़ संकल्प करना चाहिए। सभी दिशाओं में एक साथ नियंत्रण करने का प्रयास ब्रह्मचर्य पालन में अधिक कारगर साबित होता है। इसमें सफलता की संभावना ज्यादा होती है। ब्रह्मचर्य की प्राप्ति एक उच्चतम लक्ष्य है। इसलिए इसकी प्राप्ति के लिए अधिकतम प्रयास करना पड़ता है। मन और इन्द्रियों को परमेश्वर के मार्ग पर ले चलना ही ब्रह्मचर्य है। केवल देह पर नियंत्रण पा लेने मात्र से इसे नहीं पाया जा सकता है। ब्रह्मचर्य पालन का अर्थ केवल सन्यास लेना या अविवाहित रहना नहीं है। ब्रह्मचर्य में सन्यास नहीं संयम आवश्यक है। गांधीजी के अनुसार विवाहित दम्पति को भी ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। वे इन्द्रिय भोग को संतानोत्पत्ति के लिए ही ठीक समझते थे।

ब्रह्मचर्य एक मानसिक दशा है। इसका विकास बाह्य निग्रहों से नहीं किया जा सकता है। "सच्चा ब्रह्मचारी झूठे निग्रहों से दूर रहेगा। उसे अपनी सीमाओं को ध्यान में रखते हुए अपने बचाव की विधियाँ स्वयं ही निर्धारित करनी होगी और जैसे-जैसे वे आवश्यक लगती जाएँ, उन्हें छोड़ते जाना होगा। पहली चीज तो यह है कि आदमी यह जाने कि सच्चा ब्रह्मचर्य क्या है, फिर उसका मूल्य पहचाने और अंत में इस अमूल्य गुण को विकसित करने का प्रयास करे। मेरी धारणा है कि इस देश की सच्ची सेवा के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है।"[22] उत्तम साहित्य का अध्ययन, शुद्ध मित्रता तथा आहार-विहार में मर्यादा आदि भी व्यक्ति को ब्रह्मचर्य के पथ पर अग्रसर करने में सहायक होते हैं। ब्रह्मचर्य पालन से शारीरिक लाभ के साथ-साथ मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति में भी वृद्धि होती है। ब्रह्मचर्य व्यक्ति को स्थिर वीर्य बनाकर ब्रह्म आचरण की ओर प्रेरित करता है। ब्रह्मचर्य के

बल पर ही परम आनन्द को पाया जा सकता है। "पूर्ण त्याग अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचर्य एक ही आदर्श स्थिति है। यह उनके लिए है जो आध्यात्मिक अर्थात् उच्चतर जीवन जीने के आकांक्षी हैं। इस तरह के जीवन के लिए ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य शर्त है।"[23] गांधीजी के अनुसार भारतीय जीवन की पतित अवस्था का कारण ब्रह्मचर्य आश्रम का उच्छेद है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि समस्त इन्द्रियों का सयंम ही ब्रह्मचर्य है। यह मन की बाह्य नहीं, आंतरिक स्थिति है। ब्रह्म तक पहुँचने का सम्यक मार्ग ही ब्रह्मचर्य है। इस मार्ग पर चलने से व्यक्ति में दिव्यता एवं तेजस्विता आती है तो इसके अभाव में दुर्बलता और निर्बलता।

4.अस्वाद :

रसनेन्द्रियों को नियंत्रित करके सात्विक आहार को ईश्वर का प्रसाद मानकर शरीर के लिए आवश्यकता के अनुसार भोजन करना ही अस्वाद वृत्ति है। वासनाओं पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए मनुष्य को अपनी रसनेन्द्रियों को वश में करना चाहिए, क्योंकि आदमी जैसा खाता है वैसा ही उसका मन बन जाता है। इसलिए मनुष्य को रसना तुष्टि के लिए नहीं, अपितु शरीर की रक्षा के लिए भोजन करना चाहिए। गांधीजी शारीरिक श्रम करने के उद्देश्य से आहार ग्रहण करते थे। उनका मानना था कि शरीर में ही छीन जाने वाले तत्त्वों को फिर पूरा करने और शरीर को कार्य करने लायक स्थिति में बनाये रखने के लिए आहार आवश्यक है।

5.अस्तेय :

अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। अर्थात् दूसरे की वस्तु न लेना। अगर हम कोई ऐसी वस्तु लेकर अपने पास रख लेते हैं जिसकी हमें तत्काल आवश्यकता नहीं है, तो हम किसी अन्य व्यक्ति से वह वस्तु चुरा रहे हैं। इतना ही नहीं अपनी माने जाने वाली वस्तु का, जिसकी जरूरत न रहने पर भी उपभोग करते हैं तो वह भी चोरी है। दूसरे के विचार अथवा शोध को अपना बनाकर पेश करना विचारों की चोरी है। "जो अहंकार पूर्वक किसी अच्छे विचार का प्रवर्तक होने का दावा करता है, लेकिन असल में उस विचार को जन्म देने वाला नहीं है वह विचारों की चोरी का दोषी है।"[24] जो अस्तेय सिद्धान्त का पालन करता है वह भविष्य में प्राप्त की जाने वाली वस्तुओं की चिन्ता नहीं करता है। इसलिए अस्तेय व्रत को धारण करने वाले को नम्र, विचारशील, जागरूक और सादी आदतों वाला होना चाहिए। वास्तव में अस्तेय का उद्देश्य मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को रोकना है।

6.अभय :

सत्य, प्रेम, अहिंसा जैसे उच्च मानवीय गुणों के विकास के लिए अभय अनिवार्य है। अभय के अभाव में संसार का कोई भी व्यक्ति सत्य, अहिंसा या प्रेम को नहीं पा सकता है। महात्मा गांधी के अनुसार "अभय आध्यात्मिकता की पहली शर्त है। कायर कभी नैतिक नहीं हो सकता।"[25] धर्म और भय दोनों कभी एक साथ नहीं रह सकते। गांधीवादी दर्शन के मूलमंत्र अहिंसा का मार्ग वीरों का मार्ग है, कायरों का नहीं और वीर वे हैं, जिनके पास निर्भयता का शस्त्र है। अभय के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए महात्मा गांधी ने कहा है – "ईश्वर के अलावा मनुष्य को किसी से भी डरने की आवश्कता नहीं है। अगर तुम सत्य का व्रत लेना चाहते हो तो अभय परम आवश्यक है। इसलिए हमें अभय का अभ्यास डालना होगा।"[26] भयग्रस्त मनुष्य सार्वजनिक रूप से अपनी बात को लोगों के समक्ष रखने का साहस नहीं जुटा पाता है और छुपे तौर पर ही किसी मुद्दे पर अपनी राय जाहिर करता है।

7.अपरिग्रह :

अपरिग्रह का अस्तेय के साथ चोली-दामन का सम्बन्ध है। परिग्रह का अर्थ है भविष्य के लिए संग्रह करना। सत्य-शोधक, प्रेम-धर्म का पालन करने वाला कल के लिए कोई चीज संग्रह करके नहीं रखता। विश्व-हित की दृष्टि से अपरिग्रह के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए महात्मा गांधी ने लिखा है - "अगर भारत में ऐसी चीज हो जिसकी आवश्यकता अन्य देश को है तो उसका अर्थात् भारत का कर्त्तव्य है कि उस चीज को मानवता की दृष्टि से, स्वप्रेरणा से भेज दे।"[27] यदि सभी अपनी आवश्यकता के अनुसार ही संग्रह करें तो किसी को तंगी नहीं होगी। सब संतोषपूर्वक जीवन बिता सकेंगे। जो चीज लाखों लोगों को नहीं मिल सकती उसे नहीं लेना चाहिए। स्वयं गांधीजी ने भारत की गरीबी के प्रतीक के रूप में कम-से-कम वस्त्र तथा आहार का उपयोग जीवन भर किया।

8.शरीर श्रम :

संसार में मानव मात्र के लिए शारीरिक श्रम अत्यावश्यक है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को पसीना बहाकर कमाना और खाना चाहिए। ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि इसलिए की है कि वह अपनी रोटी के लिए श्रम करे। महात्मा गांधी के अनुसार, "जो बिना श्रम किये खाते हैं, वे चोर हैं।"[28] मनुष्य को जीवित रहने के लिए श्रम करना चाहिए। जो व्यक्ति अपने जीवन

का एक मिनट भी व्यर्थ करता है तो अपने पड़ोसियों पर भार बन जाता है; और यह अहिंसा के पाठ का उल्लंघन है। मानव जाति के नब्बे प्रतिशत लोग श्रम करके खाते हैं । इसलिए बाकी के दस प्रतिशत लोग भी उनका अनुकरण कर अपने खाने लायक श्रम करने लगें तो दुनिया काफी हद तक सुखी, स्वस्थ और शांतिपूर्ण बन सकती है। "यदि सभी लोग रोटी के लिए श्रम करने लगें तो बड़े-छोटे के भेद मिट जाएंगे, अमीर लोग फिर भी रहेंगे, लेकिन वे स्वंय को अपनी सम्पत्ति का केवल न्यासी समझेंगे और उसे प्रमुखतः लोकहित के लिए इस्तेमाल में लाएंगे।"[29] बौद्धिक श्रम जीविका उपार्जन के लिए अनुचित है। शरीर की आवश्यकताएँ शारीरिक श्रम द्वारा ही पूर्ण होनी चाहिए। मानसिक और बौद्धिक श्रम केवल आत्मसंतुष्टि के लिए है। उसके बदले में किसी से कुछ लेना गलत है। आदर्श राज्य में डॉक्टर, वकील जैसे लोगों को केवल समाज के हित के लिए काम करना चाहिए स्वंय के लिए नहीं। शारीरिक श्रम के नियम का पालन करने से समाज की रचना में एक शांत क्रांति होगी। पर इसके लिए किसी को विवश करना गलत होगा। शरीर श्रम संतोष और स्वास्थ्य का आधार है पर यह संतोष और स्वास्थ्य शरीर-श्रम के नियम का स्वेच्छापूर्वक पालन करने से मिलता है। विवशता से इसका पालन करने से दरिद्रता, रोग और असंतोष उत्पन्न होते हैं।

9.स्वदेशी :

स्वदेशी का अर्थ है वह भावना जो हमें अपने निकटवर्ती प्रदेश या पड़ोसी का ही उपयोग और सेवा करना सिखाती है। महात्मा गांधी के शब्दों में "स्वदेश, प्रेम में से - अहिंसा में से - निकला हुआ सुन्दर धर्म है।"[30] उदाहरणस्वरुप अगर कोई व्यक्ती अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपने पड़ोसी को छोड़कर किसी अन्य के पास जाता है तो वह मानव जाति के नियम का उल्लंघन करता है। अगर कोई व्यापारी कोलकाता से दिल्ली आकर हमें कुछ सामान बेचना चाहता है और दिल्ली में निवास करने वाले किसी व्यापारी के पास विक्रय के लिए वही वस्तु उपलब्ध है, तो कोलकाता के व्यापारी से वस्तु खरीदना अनुचित है। स्वदेशी के प्रति गांधीजी की धारणा यह है कि हमें अहमदाबाद में प्रशिक्षित नाई के बजाय अपने गाँव के नाई को ही प्राथमिकता देनी चाहिए। अगर गाँव के नाई में कुशलता का अभाव है तो हम उसे प्रशिक्षण दिलाकर उसे कार्यकुशल बना सकते हैं। जब तक गाँव का नाई पूर्ण रूप से प्रशिक्षित नहीं हो जाता तब तक उसे छोड़ना उचित नहीं है। यह स्वदेशी की भावना है। "परन्तु जो चीज स्वदेश में नहीं बनती हो या बड़ी तकलीफ से बनती हो, वह परदेश के द्वेष के कारण अपने देश में बनाने लग जाए तो उसमें स्वदेशी धर्म नहीं है।"[31] यदि स्वदेशी की इस अवधारणा को व्यवहार में लाया जाए तो मानवता के स्वर्णयुग की अवतारणा की जा सकती है।

10.अस्पृश्यता निवारण :

अस्पृश्यता हिन्दू धर्म की एक अत्यन्त अमानुषिक और घिनौनी रूढ़ि है। हिन्दू धर्म में कुछ योनियों को पवित्र और कुछ को अपवित्र माना गया है। अस्पृश्य जातियों को अपवित्र योनियों के अन्तर्गत रखा गया है। रूढ़िवादि हिन्दू समाज की अवधारणा के अनुसार एसे लोगों के स्पर्श के साथ-साथ उनका साया भी अपवित्र होता है। अस्पृश्यता की यह परम्परा महात्मा गांधी को नाजायज प्रतीत हुई। उन्होंने इस अस्पृश्यता को हिन्दू समाज के माथे पर लगा एक कलंक माना है। उनकी राय में अस्पृश्यता मानव के विरुद्ध किया गया एक अपराध है। गांधीजी ने 'हरिजन' पत्रिका में अस्पृश्यता के प्रति अपने विचारों को व्यक्त करते हुए लिखा है- "अस्पृश्ता एक ऐसा विष है जो धीरे-धीरे हिन्दू धर्म के प्राण ही निःशेष किए दे रहा है। मेरी राय में शास्त्रों में,यदि हम सब शास्त्रों को मिलाकर पढ़े तो, इस बुराई का कहीं कोई समर्थन नहीं है। ..... इसलिए इस बुराई को जितनी जल्द निर्मूल कर दिया जाये, उतना ही हिन्दू धर्म, भारत और शायद समग्र मानव जाति के लिए वह कल्याणकारी सिद्ध होगा।"[32] संसार का कोई भी मनुष्य जन्म से अस्पृश्य नहीं है और केवल अस्पृश्यों से मित्रता करके इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता है। हिन्दू धर्म के सुधार और उसके संरक्षण के लिए अस्पृश्यता निवारण आवश्यक है। इसका निवारण तभी हो सकता है जब मनुष्य-मनुष्य के बीच की और अलग-अलग प्राणियों के बीच खड़ी दीवार को गिरा दिया जाये। गांधीजी ने तो यहाँ तक कहा है कि अगर अस्पृश्यता खत्म नहीं होती तो हिन्दू धर्म को खत्म हो जाना चाहिए। अस्पृश्यता से संघर्ष के लिए अपने-आप को अर्पित करने में महात्मा गांधी की आकांक्षा सम्पूर्ण मानव जाति के पुनरुद्धार की है।

11.सर्वधर्म-समभाव :

सर्वधर्म-समभाव के प्रतिपादक महात्मा गांधी के अनुसार संसार के तमाम धर्मों के नाम और स्थान भिन्न होने के बावजूद सभी धर्मों का मूल तत्त्व और लक्ष्य एक ही है। हिन्द स्वराज में उन्होंने लिखा है- "दुनिया के विभिन्न धर्म एक ही स्थान पर पहुँचने के अलग-अलग रास्ते हैं। जहाँ तक हम एक ही उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचते हैं, हमारे भिन्न-भिन्न मार्ग अपनाने में क्या हर्ज है ? वास्तव में जितने व्यक्ति हैं उतने ही धर्म हैं।"[33] वास्तव में संसार में सच्चा और पूर्ण धर्म तो एक ही है, परन्तु जब वह मानव के माध्यम से व्यक्त होता है तो अनेक रूप ग्रहण कर लेता है। इसलिए प्राचीन भारतीय परम्परा ने हमें सभी धर्मों का आदर करना सिखाया है।

गांधीजी हिन्दू धर्म को ही नहीं अन्य धर्मों को भी श्रेष्ठ मानते थे। उन्होंने कभी भी धर्म परिवर्तन का समर्थन नहीं किया। क्योंकि उनके विचार से मोक्ष पाने के लिए ईसाई

बनना आवश्यक नहीं है। संसार के सभी धर्म सच्चे और निर्दोष हैं इसलिए गांधीजी चाहते थे कि ईसाई एक अच्छा ईसाई बने और मुसलमान एक अच्छा मुसलमान। गांधीजी संसार के सभी धर्मों तथा धर्मग्रन्थों का आदर करते थे उन्होंने इंग्लैण्ड के विद्यार्थी-जीवन में भगवत्-गीता और बाईबल का भी अध्ययन किया था। इस प्रकार गांधीजी अपने आप को एक सच्चा हिन्दू और हिन्दू धर्म को सब धर्मों के प्रति आदर, समभाव और सहिष्णुता को सिखाने वाला धर्म मानते थे।

सारांशतः महात्मा गांधी धर्म उसे नहीं मानते जिसका वर्णन धर्मग्रन्थों में मिलता है। उनके अनुसार धर्म कोई बाहरी तत्त्व नहीं है। यह हमेशा मनुष्य के हृदय में रहता है और वहीं से इसका विकास होता है। अगर किसी भी कार्य को सही ढंग से अंजाम देना है तो व्यक्ति को अपने हृदय में विराजमान धार्मिक वृत्ति को जागृत करना होगा। इस धार्मिक वृत्ति को वह बाह्य सहायता या आंतरिक विकास के माध्यम से जागृत कर सकता है। आदमी चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो, उसके द्वारा किया गया कोई भी कार्य तब तक पूर्णता को प्राप्त नहीं करेगा, जब तक कि उसके हृदय में धर्म के प्रति आस्था न हो। संसार के सभी धर्मों ग्रन्थों में जीवन को सही और सुचारु रूप से चलाने के लिए कुछ नियम या सूत्र निर्धारित किये गए हैं। इनके अनुरूप आचरण करके मनुष्य अपने जीवन में सफलता प्राप्त कर सकता है। इन्हीं जीवन सूत्रों – सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अभय, अपरिग्रह, शरीर श्रम, स्वदेशी, अस्पृश्यता निवारण और सर्वधर्म समभाव – को अपने एकादश व्रत में स्थान देकर महात्मा गांधी ने लोगों से इनके अनुसार आचरण करने का आग्रह किया। इन नियमों या सूत्रों को अपने जीवन में स्थान देकर व्यक्ति अपने मन को पूर्णतया नियंत्रित कर सकता है। इन व्रतों के पालन से व्यक्ति के जीवन के दुःख स्वतः लुप्त हो जायेंगे और उसे अपने जीवन में कभी किसी प्रकार के अभाव की अनुभूति नहीं होगी। महात्मा गांधी की दृढ़ आस्था थी कि मानवतावाद की स्थापना के लिए इन सच्चे, श्रेष्ठ और आदर्श नियमों या व्रतों का पालन अनिवार्य है।

(ख) वर्णाश्रम धर्म :

वर्णाश्रम धर्म का सिद्धांत गांधीजी के अहिंसक समाज में संगठन का एक मौलिक सिद्धांत है। वर्ण धर्म भारतीय समाजशास्त्र का शब्द है, जिसका अभिप्राय यह है कि समाज का संगठन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों के आधार पर होना चाहिए। जाति व्यवस्था के विरोधी होते हुए भी महात्मा गांधी वर्ण व्यवस्था के पोषक थे। वे वशांनुक्रम वर्ण व्यवस्था को नष्ट न कर उसमें आधारभूत परिवर्तन करना चाहते थे। उनकी वर्ण व्यवस्था में किसी व्यक्ति को उसका वंशानुगत व्यवसाय अपनाने के लिए विवश करने का कोई प्रश्न नहीं है। वर्ण का सहज अर्थ यह है कि सब अपने वंश और परम्परागत काम को केवल जीविका के लिए ही करें बशर्ते कि वह नैतिकता के सिद्धांतो के विरुद्ध न हो। बाकी

समय में कोई अन्य काम करने में कोई बाधा नहीं होगी। आदमी अपनी आवश्यकताओं को कम-से-कम रखे। इन न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे कुछ घंटों का परिश्रम तो करना ही होगा। बचे हुए समय में वह देश और समाज के लिए कार्य कर सकता है। शूद्र व्यक्ति को शिक्षा पाने और वेदों के अध्ययन का अधिकार नहीं है और यह वर्ण व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, यह सर्वथा गलत है। ज्ञान पर किसी का एकाधिकार नहीं हो सकता। कोई लुहार अपना पेशा बखुबी चलाने के बावजूद संस्कृत पंडित भी हो सकता है। पर उसे अपने ज्ञान का उपयोग अर्थ उपार्जन में न कर जनता की सेवा और उनके बौद्धिक विकास के लिए करना चाहिए। वर्ण का यह नियम मनुष्य-मनुष्य के बीच की स्वाभाविक सीमाओं को तो मानता है पर उनमें ऊँच-नीच के भेद को स्वीकार नहीं करता। यह ऊँचा नियम आज नीचे गिर गया है। गांधीजी को पूर्ण विश्वास था कि आदर्श समाज व्यवस्था का विकास तभी होगा जब इस वर्ण नियम के रहस्यों को पूरी तरह समझ कर उन्हें कार्यान्वित किया जायेगा। 'यंग इंडिया' में उन्होंने लिखा है- "मुझे हिन्दू धर्म का जो भी ज्ञान है, उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि वर्ण का अर्थ अत्यन्त सरल है। इसका सीधा-साधा अर्थ यह है कि हम सब अपने-अपने पूर्वजों का परम्परागत धंधा सिर्फ जीविका के लिए ही करें, अगर वह पैतृक धंधा मूल नैतिक धर्म से असंगत न हो। आप महसूस करेंगे कि अगर हम सब इस वर्ण धर्म का पालन करें, तो हमारी भौतिक महत्वकांक्षाएँ मर्यादित हो जायेंगी और हमारी शक्ति उन विशाल क्षेत्रों की खोज के लिए मुक्त हो जायेगी, जिनसे और जिनके द्वारा हमें ईश्वर का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।"[34] वर्णाश्रम धर्म व्यक्ति के भौतिक सुख का नहीं बल्कि उसके आध्यात्मिक कल्याण का समर्थक है इसलिए खानदानी पेशे को अर्थोपार्जन का साधन न मानकर उसे सामाजिक दायित्व समझना चाहिए। गांधीजी के प्रतिपादन का आशय यही है।

जाति के चार भेद- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र- वृत्ति के भेद हैं और कुछ नहीं। संसार में सभी का जन्म ईश्वर की सृष्टि की सेवा के लिए हुआ है। वह सेवा ब्राह्मण अपने ज्ञान के द्वारा, क्षत्रिय अपनी शक्ति के द्वारा, वैश्य व्यवसाय वाणिज्य द्वारा और शूद्र शारीरिक श्रम के द्वारा करता है । परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि ब्राह्मण शारीरिक श्रम नहीं करेगा और शूद्र ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेगा। वर्णाश्रम धर्म का मूल लक्ष्य यह है कि समाजिक शक्ति का क्षय न हो और वह सार्थक रूप से सभी स्तरों पर वितरित हो सके। वर्णाश्रम धर्म के आशय को स्पष्ट करते हुए गांधीजी ने कहा है- "वर्णाश्रम धर्म इस पृथ्वी पर मनुष्य जीवन के उद्देश्य की व्याख्या करता है। वह रोज-ब-रोज धन बटोरने और आजीविका के भिन्न-भिन्न साधन खोजने के लिए पैदा नहीं हुआ है। इसके विपरीत, मनुष्य इसलिए पैदा हुआ है कि वह अपने प्रभु को जानने के लिए अपनी शक्ति का एक-एक अणु काम में ले। इसलिए वर्णाश्रम धर्म उस पर यह पाबंदी लगाता है कि वह जीवित रहने के

लिए सिर्फ अपने बाप-दादों का पेशा ही करे। यही वर्णाश्रम धर्म है - न कम न ज्यादा।"[35] इस वर्णाश्रम में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी विनम्र सेवक होंगे। वे तन-मन से जन-सेवा कर जनता की उदारता के सहारे अपनी आजीविका चलाएंगे। स्वयं की प्रतिष्ठा, सत्ता और अधिकार के पीछे पागल होने वाला क्षत्रिय नहीं हो सकता। सामाजिक प्रतिष्ठा और सुरक्षा के लिए जी-जान से कोशिश करने वाला ही क्षत्रिय कहलाने का अधिकारी है। केवल अपने लिए अर्थ का उपार्जन और धन-संग्रह की कामना करने वाला वैश्य नहीं चोर है। समाज की सेवा करने के लिए शूद्र अपनी श्रम शक्ति भले ही बेचता हो, लेकिन बाकी तीन वर्णों से वह किसी मायने में कम नहीं है।

निष्कर्षतः जाति व्यवस्था के विरोधी होते हुए भी महात्मा गांधी वर्ण व्यवस्था के समर्थक थे। वे जिस वर्ण व्यवस्था का समर्थन करते हैं, वह पृथ्वी पर मनुष्य के जीवन-उद्देश्य को परिभाषित करती है। उनकी यह धारणा नितान्त विज्ञान सम्मत और नीति सम्मत है। प्रचलित जाति व्यवस्था से से इसका कोई लेना-देना नहीं है। वर्ण व्यवस्था में वर्णित भेद केवल वृत्ति के भेद हैं। महात्मा गांधी परम्परा से चली आ रही वर्ण व्यवस्था को खत्म न कर उसको परिवर्तित करना चाहते थे, जिससे मनुष्य की भौतिक महत्वाकांक्षाएँ मर्यादित हो सके। वर्णाश्रम धर्म के नियमों को यदि सही मायने में आचरण में लाया जाय तो आदर्श समाज व्यवस्था विकसित हो सकती है।

(ग) सर्वधर्म समभाव :

सर्वधर्म समभाव के प्रतिपादक गांधीजी के हृदय में संसार के सभी धर्मों के प्रति समान निष्ठा की भावना थी। उनका मानना था कि विश्व के सभी धर्मों का लक्ष्य और मूल तत्त्व एक ही है। सभी धर्म एक ही सत्य की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। हिन्दू, इस्लाम, सिक्ख, ईसाई आदि धर्मों में ईश्वर के अलग-अलग नाम केवल गुण सूचक हैं। गांधीजी की आस्था गुणातीत ईश्वर में थी। वे असहिष्णुता को हिंसा का रूप मानते थे। 'हरिजन' में उन्होंने लिखा है -"इस गुणातीत परमेश्वर में श्रद्धा होने से सब धर्मों के प्रति समान सम्मान का भाव आ जाता है। यह विश्वास करना कि तुम्हारा धर्म अन्य धर्मों से उच्च कोटि का है; और दूसरों से तुम्हारे धर्म को स्वीकार कराने की बात को न्यायोचित बताना ये दोनों ही असहिष्णुता के चोटी स्वरूप हैं –और असहिष्णुता ही एक प्रकार की हिंसा होती है।"[36] भारत में यह असहिष्णुता साम्प्रदायिक वैमनस्य के रूप में व्यक्त हुई है। गांधीजी के सर्वधर्म समभाव के व्रत का मूल आधार धार्मिक सहिष्णुता है। इसलिए वे विश्व के सभी धर्मों में समानता के सूत्र को पहचानने और परस्पर सहिष्णुता के विकास के लिए आजीवन प्रयास करते रहे।

धर्म के क्षेत्र में सर्वधर्म समभाव की प्रतिष्ठा करने वाले महात्मा गांधी को विश्वास था कि सभी धर्मों में अनेकरूपता होते हुए भी उनकी आत्मा एक है। उनके अनुसार "विश्व के सभी महान धर्म लगभग सच्चे हैं। 'लगभग' इसलिए कहता हूँ कि मेरा विश्वास है कि मानव चूँकि अपूर्ण है इसलिए वह जिस चीज को भी हाथ लगाएगा वह अपूर्ण हो जाएगी। पूर्णता केवल ईश्वर का गुण है।"[37] वैसे तो संसार के सभी धर्म ईश्वर की देन है परन्तु मनुष्य की कल्पना से उत्पन्न और उसी के द्वारा प्रचारित होने के कारण वह अपूर्ण है। ईश्वर प्रदत्त धर्म तो अगम्य है। प्रत्येक मनुष्य अपनी दृष्टि के अनुरूप अपने धर्म की व्याख्या करता है। इसलिए संसार के सभी धर्म अपनी-अपनी दृष्टि से अच्छे हैं। जब तक हम उसकी दृष्टि के अनुसार चलते हैं, तब तक वह सच्चा है। लेकिन सबका सही होना भी नामुमकिन है। इसलिए मनुष्य को सभी धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे व्यक्ति के मन में अपने धर्म के प्रति उदासीनता की भावना नहीं आती बल्कि अपने धर्म के प्रति हमारा प्रेम ज्ञानमय बनता है। वह पहले से ज्यादा सात्विक और ज्यादा निर्मल हो जाता है। सभी धर्मों के प्रति समानता का भाव होने पर मनुष्य की दृष्टि में दिव्यता आती है। धर्म का सच्चा ज्ञान प्राप्त होने पर मनुष्य के हृदय में समभाव अपने-आप उत्पन्न हो जाता है। इस समभाव के बल पर मनुष्य अपने धर्म को भली-भाँति पहचानने में सक्षम होता है।

हिन्दू धर्म के प्रति गांधीजी के मन में अटूट श्रद्धा थी। फिर भी हिन्दू धर्म की ओछी, दुष्ट और अनैतिक रूढ़ियों का उन्होंने विरोध किया। लेकिन जो रीति-रिवाज अन्यायमूलक और अनैतिक नहीं है पर अज्ञान और अंधश्रद्धा पर आधारित हैं, उनका गांधीजी ने समर्थन ही किया है। मूर्तिपूजा का समर्थन करते हुए उन्होंने कहा है – "मैं मूर्तिपूजा की भावना की कद्र करता हूँ। इसका मानव जाति के उत्थान में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। और मैं चाहूँगा कि मुझमें हमारे देश को पवित्र करने वाले हजारों पावन देवालयों की रक्षा अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी करने का सामर्थ्य हो।"[38] इतना ही नहीं वे कहते हैं –"जब हम किसी पुस्तक या वृक्ष को पवित्र समझकर उसका आदर करते हैं तो मूर्ति की पूजा ही करते हैं।"[39] मस्जिद में नमाज पढ़ने वाला मुसलमान, मेरी या ईसा मसीह की तस्वीर या मूर्ति के सामने शीश नवाने वाला ईसाई और मूर्तिपूजा करने वाले हिन्दू की मनोभावना में सैद्धांतिक रूप से कोई अन्तर नहीं है। इस दृष्टि से सभी धर्म समान है।

विभिन्न धर्मों के अनुयायियों को एक दूसरे के सम्पर्क में आकर बेहतर मनुष्य बनने का प्रयास करना चाहिए। किसी भी धर्मावलम्बी को अपने धर्म की दृष्टि से प्रत्येक धर्म को परखना चाहिए। गांधीजी नहीं चाहते थे कि भारत में एक ही धर्म पूर्णत: हिन्दू, ईसाई या इस्लाम का विकास हो। उनकी इच्छा थी कि भारत पूर्णतः सहिष्णु बने जिससे सभी धर्म आपसी द्वेष या वैमनस्य को भूलाकर साथ-साथ चलें। किसी जाति या राष्ट्र के धर्म को ही

सत्य मानने वाली कट्टरता को भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उनकी मान्यता थी कि धर्म किसी राष्ट्र या जाति की सम्पत्ति नहीं है। ईश्वर न काबे में है, न काशी में। धर्म प्रकाश है, प्रेम है, सत्य है और महान है। सर्वधर्म समभाव की भावना के कारण महात्मा गांधी धर्म परिवर्तन के विरोधी थे। उनके मतानुसार सबको अपने धर्म में रहकर पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। अगर एक बाड़े से निकलकर दूसरे में चले जाने से कोई उत्थान न होता हो तो जाने से कोई फायदा नहीं है।

निष्कर्षतः महात्मा गांधी के हृदय में विश्व के सभी धर्मों के प्रति समानता का भाव था। उनका मानना था कि बाहरी विविधता होते हुए भी सभी धर्मों की आत्मा एक है, सभी धर्मों के मूल बुनियादी सिद्धान्त एक है। संसार के सभी धर्म सत्य को प्रकट करने वाले हैं। इसलिए किसी भी धर्म को छोटा या बड़ा मानना अनुचित है। जिस तरह हम अपने धर्म का सम्मान करते हैं उसी प्रकार अन्य धर्मों के प्रति भी हमारे हृदय में सम्मान की भावना होनी चाहिए। जहाँ ऐसी परस्पर धार्मिक सहिष्णुता होगी वहाँ किसी भी धर्म के विरोध की कोई गुंजाइश नहीं रहेगी।

(ii) गांधीवादी सामाजिक-राजनीतिक दर्शन :

महात्मा गांधी कोई विख्यात समाज सुधारक या राजनैतिक सिद्धान्तवेत्ता नहीं बल्कि एक धार्मिक साधक एवं कर्मयोगी थे। हिन्दू धर्म के पुनर्निमाण एवं सामाजिक सुधार में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। धर्म और नैतिकता से शून्य राजनीति को महत्त्वहीन बताते हुए स्वार्थपरायण राजनीति को कर्ममय बनाने का वे आजीवन प्रयास करते रहे।

राजा राममोहन राय ने भारत में जिन सामाज सुधार के कार्यक्रमों को प्रारंभ किया उन्हीं कार्यक्रमों को अहिंसा और प्रेम के माध्यम से आगे बढ़ाकर महात्मा गांधी भारतीय समाज में आमूल परिवर्तन लाना चाहते थे। उन्होंने समाज सुधार एवं राष्ट्रीय स्वतंत्रता के कार्यक्रमों को साथ-साथ लेना आवश्यक समझा। उनका मानना था कि जब तक भारतीय समाज की बुराइयों का निराकरण नहीं हो जाता, तब तक भारतवासियों के लिए स्वराज प्राप्ति कोई महत्त्व नहीं रखती। वे एक ऐसे अहिंसक समाज की रचना करना चाहते थे, जिसमें प्रेमभाव, साम्प्रदायिक एकता और धार्मिक समभाव हो परन्तु रूढ़िवादिता और अस्पृश्यता न हो। एक आदर्श भारत की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए गांधीजी ने कहा है –"मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करूँगा जिसमें गरीब-से-गरीब लोग भी महसूस करेंगे कि वह उनका देश है जिसके निर्माण में उनकी आवाज का महत्त्व है।"[40] उनके सामाजिक सिद्धांत मनुष्य की मूलभूत एकता पर आधारित है। उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टिकोण से सामाजिक विषमता को दूर करने का प्रयास किया था।

महात्मा गांधी के अनुसार धर्म से अलग राजनीति का कोई अर्थ ही नहीं है। धर्महीन राजनीति आत्मा का नाश कर देती है। राजनीति में प्रवेश के पश्चात महात्मा गांधी को यह

अनुभूति हुई कि समाज के एक वर्ग ने राजनीति को अपनी स्वार्थ-सिद्धि का माध्यम बना लिया है। इस स्वार्थ केन्द्रित राजनीति को कर्ममय बनाने का वे आजीवन प्रयास करते रहे। 'यंग इंडिया' में उन्होंने लिखा है- "यदि मैं राजनीति में भाग लेता हूँ तो इसका कारण केवल यही है कि आज राजनीति हमें सर्प की कुण्डलियों की भाँति घेरे हुए है, जिससे बाहर अत्याधिक प्रयत्न करने पर भी कोई निकल नहीं सकता। मैं इस सर्प से लड़ना चाहता हूँ, मैं राजनीति में धर्म को प्रविष्ट कराने का प्रयत्न कर रहा हूँ।"[41] राजनीति का शुद्धिकरण राजनीतिशास्त्र को महात्मा गांधी की स्थायी देन है। मानव समाज के लिए कल्याणकारी राजनीति को उच्चतम, नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए। इसलिए उन्होंने राजनीति में साधनों की पवित्रता और नैतिकता बनाए रखने पर बल दिया। राजनीति के प्रति अपने विचारों को प्रकट करते हुए गांधीजी ने कहा है- "मेरी दृष्टि में धर्म से वंचित राजनीति केवल गंदगी है, जो सर्वथा त्याज्य है। राजनीति का सरोकार राष्ट्रों से है और जिस चीज का सरोकार राष्ट्रों के कल्याण से हो, वह धार्मिक प्रवृत्ति वाले अर्थात् ईश्वर और सत्य की खोज करने वाले व्यक्ति के सरोकार की चीज अवश्य होनी चाहिए।"[42] महात्मा गांधी की राजनीति शक्तिलिप्सा न होकर सेवा की राजनीति या सतोगुणी राजनीति है, जिसमें नैतिकता है। इस नैतिक दृष्टि के कारण गांधीजी की राजनीति में संकीर्ण राष्ट्रीयता के लिए स्थान नहीं है और यह साम्प्रदायिकता और वर्ग भेद की सीमाओं से मुक्त है।

निष्कर्षतः महात्मा गांधी का सामाजिक दर्शन मनुष्य की मूलभूत एकता और राजनीतिक दर्शन उनके धार्मिक और नैतिक विश्वासों पर आधारित है जिसकी मूल प्रेरणा 'वसुधैव कुटुम्बकम' के आदर्श में निहित है। गांधीवादी सामाजिक-राजनीतिक दर्शन से सम्बन्धित रचनात्मक कार्यों को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत देखा जा सकता है –

(क) रूढ़ि-विरोध

(ख) हरिजनोद्धार

(ग) स्वतंत्रता संग्राम में गांधी का नेतृत्व :

- (i) साधनों की पवित्रता
- (ii) सत्याग्रह एवं सविनय अवज्ञा

(घ) रामराज्य का आदर्श

(ङ) सर्वोदय

(च) पंचायती राज

(क) रूढ़ि-विरोध :

अंधविश्वासयुक्त विधि-विधान की क्रियाएं रुढ़ियाँ कहलाती है। धर्म के प्रति गांधीजी का दृष्टिकोण उदार था। यद्यपि वे स्वयं को कट्टर सनातनी हिन्दू मानते थे तथापि उनका धर्म कुंठित नहीं था। उनकी धर्मभावना रूढ़ियों का प्रचार करने वाले प्रतिक्रियावादियों की भावना से भिन्न थी। उन्होंने हिन्दू धर्म के उन स्व-नियुक्त संरक्षकों, रूढ़िवादी पंडितों की सत्ता को चुनौती दी थी, जो धार्मिक अंधानुकरण, कर्मकाण्ड को न्यासंगत ठहराते थे। वैसे तो समाज सुधारक के रूप में उन्होंने मध्ययुगीन सभी रीति-रिवाजों के खिलाफ आवाज उठाई, परन्तु छुआ-छूत या जात-पाँत, खाद्याखाद्य-विवेक एवं व्रत-उपवास आदि रूढ़ियों का अधिक सक्रिय विरोध किया।

महात्मा गांधी ने छुआ-छूत की रूढ़ि को कभी स्वीकार नहीं किया। उनके मतानुसार छूआ-छूत वर्ण व्यवस्था की उपज नहीं है। यह ऊँच-नीच की भावना का परिणाम है। गांधीजी वर्ण व्यवस्था के तो समर्थक थे परन्तु वर्ण व्यवस्था के आधार पर उन्हें ऊँच-नीच का भेद मान्य नहीं था। उन्होंने कहा है- "वर्ण का नियम आदमियों की अपनी स्वाभाविक सीमाएँ तो मानता है, लेकिन वह उनमें ऊँचे और नीचे का भेद नहीं मानता।"[43] उनकी दृष्टि में ब्राह्मण और भंगी दोनों ईश्वर की संतान हैं, दोनों में ईश्वर विद्यमान है। इसलिए इन दोनों में न कोई ऊँचा है न कोई नीचा, दोनों सर्वथा समान हैं। उनकी नजरों में शूद्र का कार्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि ब्राह्मण या पुरोहित का। उनके आश्रम में सबको सफाई का काम करना पड़ता था। वे राजनीतिक, सामाजिक, और आर्थिक क्षेत्र में प्रत्येक मनुष्य के समान अधिकारों के पक्षधर थे। केवल वर्ण के आधार पर किसी व्यक्ति को श्रेष्ठ समझना उन्हें मान्य नहीं था। इस कुरीति को समाप्त करने और विभिन्न जातियों में मेल-जोल बढ़ाने के लिए उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह पर बल दिया। उनके अनुसार "वर्णाश्रम में अन्तर्जातीय विवाह या खान-पान की न तो कोई मनाही थी और न होनी चाहिए ।"[44] पर इस मामले में भी वे जबरदस्ती के खिलाफ थे। वे चाहते थे कि व्यक्ति इस बात का निर्णय स्वयं करे कि वह कहाँ विवाह करेगा और कहाँ खायेगा।

खाद्याखाद्य विवेक में भी गांधीजी का मत परम्परा भंजक प्रतीत होता है। उनके अनुसार भोजन किसी विशेष वर्ण के व्यक्ति द्वारा ही बनाया हो, यह कदापि आवश्यक नहीं है। उनकी दृष्टि में इस प्रकार का संकीर्णतावादी दृष्टिकोण धर्म विरोधी है। पाप-निवृत्ति एवं पुण्य-प्राप्ति के उद्देश्य से लोग व्रत रखते हैं पर गांधीजी ने इसे सत्य के आधार पर दृढ़ प्रतिज्ञा और आत्मशुद्धि का एक साधन स्वीकार किया है। उनके लिए व्रत का अर्थ है – "जो आचरण अपने को सत्य विचार का अनुसरण करने वाला जान पड़ता है उस पर अविचल

भाव से स्थिर रहने और उसके विपरीत आचरण कभी न करने की प्रतिज्ञा।"[45] इस प्रकार व्रत के ही अन्य रूप उपवास को गांधीजी शरीर-शोधन का उपाय और सत्य-शोधन का साधन मानते थे। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उपवास किया जाता है; परन्तु गलतियों के प्रायश्चित के रूप में इसका अधिक महत्त्व है।

महात्मा गांधी ने अपने आश्रम में कभी किसी मूर्ति की स्थापना की। पर इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि उन्होंने कभी मूर्ति पूजा का विरोध भी नहीं किया। मूर्ति स्थापना के स्थान पर वे चर्खे की स्थापना का परामर्श दिया करते थे। उनका धर्म माला जपने और तिलक लगाने वाला नहीं था। उनकी ईश्वर प्रार्थना भी रूढ़ नहीं थी।

निष्कर्षतः धर्म दर्शन के प्रति अपने उदार दृष्टिकोण के चलते महात्मा गांधी ने अनेक हिन्दू परम्पराओं को ग्रहण करते हुए भी उनमें प्रचलित रूढ़ियों और अंधविश्वासों का विरोध किया। मध्ययुगीन रीति-रिवाजों, नारी जीवन सम्बन्धी रूढ़ियों, जात-पाँत एवं व्रत-उपवास सम्बन्धी रूढ़ियों का स्पष्ट विरोध उनके विचारों में ध्वनित होता है। इन रूढ़ियों के विरोध में उनका दृष्टिकोण सुधारवादी, विज्ञानसम्मत और युगानुकूल रहा है। अन्य समाज सुधारकों से अलग हटकर महात्मा गांधी ने बाह्य रूपों की अपेक्षा आन्तरिक भावना पर अधिक बल दिया है।

(ख) हरिजनोद्धार :

महात्मा गाधी अहिंसक समाज की स्थापना चाहते थे। उनकी दृष्टि में अस्पृश्यता समाज में परिव्याप्त हिंसा का एक रूप थी। वे इस अमानवीय और घृणित प्रथा को हिन्दू समाज का अंग नहीं बल्कि एक अमिट कलंक मानते थे जिसको दूर करना हर हिन्दू का परम कर्त्तव्य है। अस्पृश्यता निवारण हेतु उन्होंने हरिजनोद्धार को प्राथमिकता दी थी। हरिजनों के प्रति उनके हृदय में प्रगाढ़ प्रेम था। वे हरिजनों की सेवा करते-करते तादात्म्य हो गए थे। इसलिए वे अगले जन्म में हरिजन बनने की आकांक्षा करते थे –"मैं फिर से जन्म लेना नहीं चाहता। लेकिन मेरा पुनर्जन्म हो ही तो मैं अछूत पैदा होना चाहूँगा ताकि मैं उनके दुखों, कष्टों और अपमानों का भागीदार बनकर स्वयं को और उन्हें इस दयनीय स्थिति से छुटकारा दिलाने का प्रयास कर सकूं। इसलिए मेरी प्रार्थना है कि यदि मेरा पुनर्जन्म हो तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के रूप में न हो बल्कि अतिशूद्र के रूप में हो।"[46] छुआ-छूत से लड़ने और उस संघर्ष के लिए स्वयं को अर्पित करने में उनकी आकांक्षा मानव जाति के सम्पूर्ण उद्धार की थी।

उन्होंने स्पष्ट घोषणा की थी कि अस्पृश्यता धर्म का अंग है तो वह धर्म ही परित्याज्य है। ऐसे धर्म का विनाश ही अच्छा है। "अगर छूआ-छूत कायम रहती है तो हिन्दू

धर्म को खत्म हो जाना चाहिए।"[47] इस छुआ-छुत की भावना के चलते अछूतों का मन्दिरों, स्कूलों आदि सार्वजनिक स्थानों में प्रवेश निषेध था। अछूतों को अमानुषिक व्यवहार से मुक्ति और समानता का अधिकार दिलाने के लिए महात्मा गांधी ने 21 दिनों का उपवास रखकर अपने प्राणों को दाँव पर लगा दिया। हरिजनों के लिए समानता और अधिकारों की बात करते हुए उन्होंने कहा, "हममें से प्रत्येक को अपने हृदय से अस्पृश्यता के पाप को धो डालना चाहिए। इसका मतलब यह है कि हमें ऊँच-नीच के सारे भेद-भाव को भूला देना चाहिए। हम सब एक ही परम पिता की संतान हैं और इसलिए हमारे बीच ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं हो सकता। हरिजन को वही अधिकार और सुविधाएँ होनी चाहिए जो अन्य हिन्दूओं को।"[48] इस प्रकार गांधीजी ने छुआ-छूत की समस्या पर राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सामाजिक, धार्मिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टियों से भी विचार किया है। उन्होंने लोगों से आग्रह किया कि हरिजनोद्धार सम्बन्धी कार्यों को करते समय उनमें उपकार प्रदर्शन की भावना न होकर कर्त्तव्य पालन की भावना हो। "हमें हरिजनों के पास प्रायश्चित या कर्जदार की भावना से पहुँचना चाहिए न कि अपात्रों के प्रति उदारता दिखाने वाले उनके आश्रयदाता या साहूकार बनकर।"[49] उन्हें इस बात की आशंका थी कि बिना आत्मशुद्धि के हम हरिजनों के विश्वासपात्र नहीं बन सकेंगे।

निष्कर्षतः महात्मा गांधी जिस अहिंसक समाज की स्थापना करना चाहते थे छुआछूत उसके मार्ग की सबसे बड़ी बाधा थी। गांधीजी को विश्वास था कि हरिजनों की उन्नति में बाधक अस्पृश्यता का निवारण होते ही उनका आर्थिक, नैतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक उत्थान स्वयमेव होने लगेगा। इसलिए वे आजीवन सवर्णों के हृदय से अस्पृश्यता का विष निकालने का प्रयास करते रहे।

(ग) स्वतंत्रता संग्राम में गांधी का नेतृत्व :

महात्मा गांधी के राजनीति में पदार्पण करने के समय स्वतंत्रता संग्राम चल रहा था। उन्होंने इस संग्राम में अपने चिंतन और कार्य से महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने अनेक स्थलों पर स्वतंत्रता के विषय में अपने उद्गारों को व्यक्त किया। उनके अनुसार स्वतंत्रता मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य को व्यक्तिगत स्वतंत्रता से वंचित करके संभवतः किसी समाज की रचना नहीं की जा सकती। यह मनुष्य की प्रवृत्ति के प्रतिकूल है।[50] स्वतंत्रता स्वच्छन्दता नहीं है। अप्रतिबंधित स्वतंत्रता तो जंगल का नियम है। वास्तविक स्वतंत्रता का आधार निर्भयता है। गांधीजी आतंक द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने के स्थान पर तप और आत्मशुद्धि द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करना श्रेयस्कर समझते थे।[51] गांधीजी के विचारानुसार स्वतंत्रता का वास्तविक प्रयोजन जीवन का सर्वांगीण विकास करना है। व्यक्ति की स्वतंत्रता बिना राज्य की स्वतंत्रता के असंभव है। व्यक्ति सर्वोपरि है क्योंकि

राज्य की प्रभुसत्ता जनता में निहित है। राज्यों का निर्माण व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए होता है । इसी आधार पर उन्होंने कहा था –"आजादी राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक तीनों प्रकार की होनी चाहिए। राजनीतिक से तात्पर्य यह है कि अंग्रेजी फौज के प्रत्येक स्वरूप का नियंत्रण पूरी तरह हटा लिया जाए। आर्थिक से तात्पर्य है अंग्रेजी पूंजीपतियों और पूंजी तथा उनके भारतीय प्रतिरूपियों से पूरी तरह मुक्ति। दूसरे शब्दों में दीन-से-दीन व्यक्ति को भी यह लगना चाहिए कि वह सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न व्यक्ति के समकक्ष है। यह तभी संभव है जब पूंजीपति अपने कौशल और पूंजी से दीनतम और निम्नतम व्यक्ति को भागीदारी करने दें। 'नैतिक' से तात्पर्य सशस्त्र रक्षा बलों से मुक्ति है।"[52] महात्मा गांधी ने स्वतंत्रता संग्राम का वैचारिक समर्थन करते हुए साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष का सफल नेतृत्व किया। इस संग्राम में उन्हें पूंजीपतियों और मजदूरों, कृषकों और सरकारी कर्मचारियों, महिलाओं और छात्रों, वकीलों और डॉक्टरों आदि समाज के सभी वर्गों के लोगों का सहयोग प्राप्त हुआ। साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में गांधीजी ने सत्याग्रह, असहयोग, अविनय, अवज्ञा, कर निषेध, प्रदर्शन, बहिष्कार आदि शक्तिशाली अस्त्रों का प्रयोग किया। उन्होंने बताया कि हिंसा को अहिंसा से, असत्य को सत्य से और अनैतिकता को नैतिकता से पराजित किया जा सकता है। अंग्रेजों का शासन हिंसा पर आधारित था इसलिए वह अनैतिक और असत्य था। उसका खात्मा करने के लिए गांधीजी ने सत्य, अहिंसा और असहयोग से एक अहिंसक क्रान्ति दी। भारतीय जनता ने एकजुट होकर उनका समर्थन किया। इससे राष्ट्रीय भावना का प्रसार हुआ। उनकी राष्ट्रीयता का अर्थ था कि देश स्वतंत्र होकर मानवजाति के विकास में सहयोग दे।

(i) साधनों की पवित्रता :

महात्मा गांधी आध्यात्मिक साधना करने वाले कर्मयोगी थे। उनके समस्त व्यवहारों की मूल प्रेरणा लौकिक सिद्धि नहीं, आध्यात्मिक उपलब्धि रही है। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए उन्होंने साधनों की पवित्रता को विशेष महत्त्व दिया। मूल्यों के प्रति यह चेतना ही उन्हें अन्य क्रान्तिकारियों से अलग करती है।

गांधी दर्शन प्राचीन भारतीय मूल्यों से निर्मित हुआ है। फलतः उसका मूल आधार साधनों की पवित्रता है। उनके अनुसार अहिंसक साधनों का विवेकपूर्ण उपयोग सत्याग्रही के लिए सर्वस्व है। गांधीजी साम्यवादियों की इस धारणा से कभी एकमत नहीं थे कि साध्य से ही साधनों का औचित्य है। साम्यवादियों के अनुसार साधन-साध्य अलग नहीं है। महात्मा गांधी के अनुसार अगर कोई साधनों की शुद्धता का ध्यान रखे तो साध्य अपने-आप ठीक रहेगा। साध्य साधन का फल होता है। साम्यवादी साध्य को पाने के लिए अनैतिक साधनों को अपनाने में भी नहीं हिचकते। इसलिए वे हिंसा को भी अनुचित नहीं

मानते। गांधीजी के अनुसार बल प्रयोग अपवित्र साधन है, इसलिए उन्होंने हिंसात्मक ढंग से देश को स्वतंत्र कराने का मार्ग कभी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने लिखा है-"मेरी कल्पना का स्वराज्य तभी आयेगा जब हमारे मन में यह बात अच्छी तरह जम जाये कि हमें अपना स्वराज्य सत्य और अहिंसा के शुद्ध साधनों द्वारा ही हासिल करना है, उन्हीं के द्वारा हमें उसका संचालन करना है और उन्हीं के द्वारा हमें उसे कायम रखना है। सच्ची लोकसत्ता या जनता का स्वराज्य कभी भी असत्यमय और हिंसक साधनों से नहीं आ सकता।"[53] साधनों की अनैतिकता साध्य की नैतिकता को नष्ट कर देती है। अतः आदर्श समाज के निर्माण एवं स्थायी शांति की स्थापना के लिए साधनों की पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है।

(ii) सत्याग्रह एवं सविनय अवज्ञा :

राजनीतिक क्षेत्र में अहिंसा के सिद्धान्त को मूर्त्त रूप देने के लिए महात्मा गांधी ने जिस कार्य पद्धति का प्रयोग किया, वह सत्याग्रह है। सत्याग्रह एक ऐसी साधना है जिसके द्वारा सत्य धर्म की रक्षा के लिए आग्रह किया जाता है। इसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, प्रच्छन्न या प्रकट, सभी प्रकार की हिंसा वर्जित है। हिंसा से परे रहना, विरोधी के प्रति किसी प्रकार का द्वेष-भाव या वैमनस्य न रखना और निरन्तर प्रेम और आत्मपीड़न द्वारा विरोधी को जीतने का प्रयत्न करना अर्थात् विरोधी के बजाय स्वयं को पीड़ित करके सत्य को प्रमाणित करना ही सत्याग्रह का सार है। सत्याग्रह को सत्यशक्ति के साथ-साथ आत्मशक्ति बताते हुए महात्मा गांधी ने कहा है- "सत्याग्रह सत्य पर जमे रहना है। इसलिए उसका अर्थ है सत्यशक्ति। पर सत्य आत्मा है इसलिए वह आत्मशक्ति भी है।"[54] गांधीजी ने सत्याग्रह की पद्धति को राजनीतिक क्षेत्र में बहुलता से अपनाया है। अपने अनुसंधानों द्वारा उन्होंने इसे सामूहिक झगड़ों को निबटाने की आदर्श पद्धति बना दिया। उनके अनुसार, "सत्याग्रह और उसकी प्रशाखाएँ, असहयोग तथा सविनय प्रतिरोध और कुछ नहीं बल्कि पीड़ा के नियम के ही नये नाम हैं।"[55] गांधीजी का सत्याग्रह असहयोग का ही विकसित और उन्नत रूप है। यह राजनीतिक प्रतिकार का श्रेष्ठ साधन है। सार रूप में राष्ट्रीय या राजनीतिक जीवन में सत्य या शालीनता की प्रतिष्ठा ही सत्याग्रह है। आत्मा की उच्चतम अभिव्यक्ति होने के कारण यह महानतम बल है। इसकी एक ही गति है और वह है – प्रगति। गांधी के अनुसार "सत्याग्रह दुनिया के सर्वाधिक सक्रिय बलों में से एक है। यह सूर्य की भाँति है जो हर रोज बिना नागा पृथ्वी के ऊपर चमकता है। यह जीवन और प्रकाश तथा शांति एवं सुख का प्रसार करता है।"[56] सत्याग्रह राजनीतिक प्रतिकार का श्रेष्ठ साधन है। सविनय अवज्ञा, उपवास, देश त्याग, धरना, पिकेटिंग, हड़ताल, बहिष्कार आदि इसी के रूप हैं। राजनीति के क्षेत्र में युद्ध

और शांति के विकल्प के रूप में सत्याग्रह के साधन का आविष्कार महात्मा गांधी की अभूतपूर्व देन है।

सविनय अवज्ञा का अभिप्राय है - अनैतिक कानून को भंग करना। इसमें प्रतिरोधी अपने विरोध को अहिंसक ढंग से प्रकट करता है। इसके कई रूप हो सकते हैं; जैसे करों को देने से इनकार करना, राज्य सत्ता को मानने से इनकार करना या एक-एक कर सारे अनैतिक कानूनों का विरोध कर सरकार के ढाँचे को ठप्प करना। सविनय अवज्ञा का प्रयोग सरकारी कानूनों या कार्यपालिका के आदर्शों के विरुद्ध होता है। सही मायने में सविनय अवज्ञा सामूहिक प्रतिकार का सार्वदेशिक आन्दोलन है। भारत पर अंग्रेजों की हुकूमत ही अनैतिक है। सरकारी आदेशों का पालन करते हुए जुल्मी सरकार की सहायता ही कर रहें हैं – इसी श्रद्धा के गर्भ से सविनय अवज्ञा का उदय हुआ। सविनय अवज्ञा को वैधानिक और विशुद्धतम आन्दोलन बताते हुए गांधीजी कहते हैं – "मेरी निश्चित राय है कि सविनय अवज्ञा वैधानिक आन्दोलन का विशुद्धतम रूप है। यदि अहिंसा पर पूरी ईमानदारी से दृढ़ रहा जाए तो उग्र-से-उग्र अवज्ञा भी हिंसा को नहीं भड़काएगी, अतः उसकी निंदा करने का अवसर ही नहीं आएगा।"[57] सविनय अवज्ञा नागरिक का जन्मजात अधिकार है। इसमें भाग लेने वाले को यदि अपने लक्ष्य की न्यायोचितता में विश्वास है, उसमें धैर्य की भावना है और वह हिंसा पर उतारू न हो तो सविनय अवज्ञा से कभी अराजकता उत्पन्न नहीं होती। अहिंसा इसकी प्रथम शर्त है – "सविनय प्रतिरोध आंदोलन की पहली अपरिहार्य पूर्व शर्त यह है कि उसमें भाग लेने वालों या सामान्य जनता की ओर से हिंसा शुरू न किए जाने की पक्की गारंटी हो। हिंसा भड़क उठने पर यह कहना बेमानी होगा कि वह राज्य अथवा सविनय प्रतिरोधकारियों के विरुद्ध अन्य तत्त्वों द्वारा प्रेरित थी।"[58] सविनय प्रतिरोध हिंसा के वातावरण में कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के अन्तर्गत गांधीजी ने नमक-कानून के विरोध के साथ-साथ विदेशी कपड़े और शराब की दुकानों की पिकेटिंग, सरकारी नौकरी का बहिष्कार, जंगल कानून का उल्लंघन सामूहिक विरोध-प्रदर्शन द्वारा किया। आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने जो अध्यादेश जारी किये उनका उल्लंघन करने का मौका भी सत्याग्रहियों को प्राप्त हुआ। अनैतिक कानून की अवज्ञा वास्तव में उच्च नैतिक नियम का पालन ही है।

निष्कर्षतः स्वतंत्रता मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। महात्मा गांधी हिंसा के स्थान पर तप और आत्मशुद्धि द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने को श्रेयस्कर समझते थे। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने साधनों की पवित्रता का विशेष ध्यान रखा। राजनीति में अहिंसा के विकल्प के रूप में सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा महात्मा गांधी की अभूतपूर्व देन है। सत्याग्रह के अन्तर्गत उन्होंने द्वेष भाव को भूलाकर आत्मपीड़न द्वारा विरोधी को जीतने का

प्रयास किया तथा सविनय अवज्ञा के तहत अनैतिक कानुनों का विरोध कर सरकारी ढाँचे को ठप्प कर दिया। इस प्रकार राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए उन्होंने सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा जैसे पवित्र साधनों को अपनाकर राजनीतिक जीवन में सत्य और शालीनता की प्रतिष्ठा की।

(घ) रामराज्य का आदर्श :

गांधीमत के अनुसार रामराज्य आदर्श राज्य व्यवस्था का नाम है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समान स्वतन्त्रता से जीवन यापन करता है। गांधीजी का रामराज्य उनके स्वराज्य का आदर्श है जिसमें धर्म, न्याय, अहिंसा और प्रेम का बोलबाला है। महात्मा गांधी ने लिखा है, "रामराज्य का प्राचीन आदर्श निस्संदेह एक सच्चा लोकतंत्र है जिसमें क्षुद्रतम नागरिक भी लंबी-चौड़ी और मंहगी प्रक्रिया के बिना शीघ्र न्याय पा सकता है।"[59] इसमें राजा और रंक दोनों को समान अधिकार प्राप्त है। रामराज्य न्याय का राज्य है जिसमें जाति, वर्ण और धर्म के भेदभाव से ऊपर उठकर सबको समान रूप से प्रगति का अवसर मिलता है। इसमें न कोई अमीर है न कोई गरीब। इसमें धार्मिक झगड़े और स्वार्थ भावना का नामोनिशान नहीं है। इसके साथ-साथ स्त्री-पुरुष को भी समान अधिकार प्राप्त है।

धार्मिक दृष्टि से गांधीजी का रामराज्य ईश्वर का राज्य है तो राजनीतिक दृष्टि से सच्चा और पूर्ण प्रजातंत्र। इसमें समाज का स्वरूप पारिवारिक है। किसी प्रकार का भेदभाव नहीं, सभी समान हैं। आर्थिक दृष्टि से इसकी व्यवस्था विकेन्द्रिकृत है। जीवन सरल, सादा और संयत है। व्यक्ति 'रोटी के लिए श्रम' के आधार पर कार्य करता है और उत्पादन लाभ के स्थान पर मानवीय आवश्यकताओं के आधार पर होता है। इस प्रकार महात्मा गांधी का रामराज्य से अभिप्राय उस समान अहिंसक प्रजातांत्रिक व्यवस्था से था जो नैतिक मूल्यों पर आधारित है। यह न्याय, पूर्णता और नीति परायणता का राज्य है। इसमें उन्होंने मुख्यतः राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता पर बल दिया।

निष्कर्षतः रामराज्य से महात्मा गांधी का अभिप्राय ईश्वर के साम्राज्य से है, जिसमें प्रत्येक नागरिक को समान स्वतंत्रता प्राप्त है। यह धर्म, न्याय, अहिंसा और प्रेम का राज्य है। यह नैतिक मूल्यों पर आधारित अहिंसात्मक लोकतांत्रिक व्यवस्था है जिसमें क्षुद्र से क्षुद्र नागरिक भी लम्बी-चौड़ी और महंगी प्रक्रिया के बिना शीघ्र न्याय प्राप्त कर सकता है। गांधी के इस रामराज्य में लोगों की संप्रभुता का आधार विशुद्ध नैतिक सत्ता है। इसमें राजा और रंक दोनों को समान अधिकार प्राप्त होते हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ इसमें आर्थिक स्वतंत्रता पर भी बल दिया गया है, क्योंकि राजनीति स्वतंत्रता का तब तक कोई मूल्य नहीं है जब तक की नागरिकों को आर्थिक स्वतंत्रता की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार गांधी का रामराज्य न्याय, पूर्णता और नीतिपरायणता का राज्य है।

(ङ) सर्वोदय :

'सर्वोदय' का अर्थ है सबका उदय। यह एक आदर्श समाज व्यवस्था है जिसका आधार सर्वव्यापी प्रेम है। इसमें राजा और रंक, हिन्दू और मुसलमान, छूत और अछूत, काले और गोरे, संत और पापी सबके लिए स्थान है। इस समाज व्यवस्था में सभी सदस्य बराबर हैं। सबको उनकी मेहनत का फल मिलेगा, शक्तिशाली कमजोरों की रक्षा करेंगे और प्रत्येक सदस्य सबके कल्याण या हित का ध्यान रखेगा। इसमें किसी भी व्यक्ति या समूह के दमन और शोषण के लिए कोई स्थान नहीं है।

महात्मा गांधी के सर्वोदय सिद्धान्त का मूल आधार प्रेम है जो यह माँग करता है कि खेती करके अपनी जीविका का उपार्जन करने वाले किसान को उत्पादन के साधन भूमि से वंचित नहीं किया जाये। परन्तु यह काम मुफ्तखोर बनकर भूमिहीन मजदूरों के श्रम पर जिन्दा रहने वाले जमींदार को कष्ट या हानि पहुँचाए बगैर करना है। सर्वोदय समाज के सबसे छोटे और निम्नतम वर्ग को भी सामाजिक न्याय दिलाने का हिमायती है। सर्वोदय की दृष्टि में सभी समान हैं। गांधीजी के अनुसार – "इसमें सबसे आखिरी और सबसे पहला दोनों बराबर होंगे या दूसरे शब्दों में कहें तो न कोई पहला होगा, न आखिरी।"[60] अर्थात् सर्वोदय समाज व्यवस्था में न कोई नीचा है, न कोई ऊँचा। सभी सदस्य बराबर हैं। आदमी के शरीर में सिर इस कारण ऊँचा नहीं है कि यह शरीर में सबसे ऊपर स्थित है और पैर इसलिए नीचे नहीं है कि वह पृथ्वी को स्पर्श करता है। जिस प्रकार शरीर के सभी अंग बराबर हैं, उसी प्रकार समाज के सभी सदस्य भी बराबर हैं।

महात्मा गांधी का सर्वोदय समाज के प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचने की सोचता है। रस्किन के 'अन्टु दिस लास्ट' से प्रभावित होकर गांधीजी ने निम्न सिद्धान्तों की वकालत की है –

1. सबके भले में अपना भला है।
2. एक वकील और एक नाई के काम का मूल्य बराबर होता है, क्योंकि समाज में उपार्जन करने का अधिकार सबको है। यह पेशे के अनुसार नहीं बदल सकता।
3. श्रम पर आधारित जीवन ही सही जीवन है। ऐसा जीवन किसानों मजदूरों और कर्मचारियों द्वारा जीया जाता है।

सर्वोदय के अन्तर्गत ऊपर से लेकर निचले तबके तक के लोग, समर्थ एवं असमर्थ, कुशल एवं मानसिक रूप से अविकसित सभी तरह के लोग आते हैं। सर्वोदय 'औरों के लिए जीओ और औरों को जीने दो' के उसी सिद्धान्त को ग्रहण करता है। सर्वोदय आदर्श राज्य के

सामाजिक आलोचक के रूप में कार्य करते हुए समाज की कमियों को उजागर कर समाज का स्वरूप निर्धारित करता है। यह अन्याय और कुविचारों के विरुद्ध आन्दोलन है जो योग्य और उपयुक्त को समाज में स्थापित करता है। अर्थात् सर्वोदय से आशय वर्गहीन समाज से है जहाँ लोग एक दूसरे का सहयोग करते हुए विकास के पथ पर अग्रसर हो। अतः सबको इसके लिए प्रयास करना चाहिए। महात्मा गांधी के अनुसार "सर्वोदय समाज का एक आदर्श है जो केवल हमारा ध्येय ही नहीं होना चाहिए बल्कि हमें उसके लिए प्रयास भी करना चाहिए और ऐसे समाज में, वर्गों आथवा समुदायों का कोई महत्त्व नहीं होता।"[61]सर्वोदय ऐसी समाज व्यवस्था की कल्पना है जहाँ अमीरों को करिंदे के रूप में काम करने की सलाह दी गई है और गरीबों को स्वावलम्बन की। और यह तभी संभव है जब हमारी मानसिकता में बदलाव आये।

गांधीजी का अटूट विश्वास है कि राज्य व्यवस्था या अर्थव्यवस्था बदलने से कुछ नहीं होता, जब तक हमारी चिंतन शैली न बदले। औसत आदमी की बात आज तथाकथित वैज्ञानिक सोच का गणित है, जो प्रगति का मापक बना हुआ है। परन्तु गांधीजी के लिए प्रगति औसत के रूप में नहीं, सर्वोदय के रूप में स्वीकार्य है। जहाँ आखिरी आदमी तक समाज की हिस्सेदारी पहुँचे। सर्वोदय का आदर्श अद्वैत और नीति समन्वय है। जीव मात्र के लिए समादर और प्रत्येक व्यक्ति के प्रति सहानुभूति ही सर्वोदय का मार्ग है। ऊँच-नीच और वर्ण व्यवस्था की दीवार तोड़े बिना सर्वोदय स्थापित नहीं होगा। सर्वोदय को सफल बनाने के लिए जातिभेद मिटाना होगा और आर्थिक विषमता दूर करनी होगी।

निष्कर्षतः महात्मा गांधी सर्वोदय के माध्यम से एक ऐसे समाज की रचना चाहते थे जिसमें वर्ण, वर्ग, धर्म, जाति, भाषा आदि के आधार पर किसी समुदाय का न तो संहार हो और न बहिष्कार। इस व्यवस्था में समाज के सभी सदस्य चाहे वह अमीर हो या गरीब, राजा हो या रंक और छूत हो या अछूत एक समान है। इसमें वर्गों अथवा समुदायों के लिए कोई स्थान नहीं है। सर्वोदय की इस समाज रचना में अंतिम व्यक्ति समाज की चिंता का सबसे पहला अधिकारी है।

(च) पंचायती राज :

गांधीजी लोकतंत्र की सफलता विकेन्द्रीकरण में मानते थे। उनके राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का अभिप्राय यह है कि ग्राम-पंचायतों को अपने ग्रामों के प्रबन्ध और प्रशासन के समस्त अधिकार सौंप दिये जाएं। उनके किसी भी मामले में राष्ट्रीय अथवा प्रांतीय सरकारों का हस्तक्षेप कम से कम हो। सभी ग्राम आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी तथा राजनीतिक दृष्टि से स्वशासन का पूर्ण अधिकार रखने वाले हों। आदर्श स्थिति तो यह होगी कि यह नियंत्रण पूर्ण रूप से नैतिक हो। प्रशासन की इस व्यवस्था को ही पंचायती राज के

नाम से अभिहित किया जाता है। यह व्यवस्था प्राचीन काल में भी प्रचलित थी, परन्तु गांधीजी ने इसमें अहिंसा का आदर्श जोड़कर इसे नवीन रूप दिया।

पंचायत के संगठन एवं स्वरूप के विषय में गांधीजी का अभिमत था कि यह एक ऐसा ग्राम स्वराज्य होगा जिसमें; गाँव का शासन चलाने के लिए निर्धारित योग्यता वाले बालिग स्त्री-पुरुष द्वारा गाँव के पाँच आदमियों की एक पंचायत चुनी जाएगी। इन पंचायतों को सब प्रकार की आवश्यक सत्ता और अधिकार होंगे। इस ग्राम स्वराज्य में आज के प्रचलित अर्थों में सजा या दण्ड का कोई विधान नहीं होगा। इसलिए यह पंचायत अपने एक साल के कार्यकाल में स्वयं ही धारा सभा, न्याय सभा और कार्यकारिणी सभा का सारा काम संयुक्त रूप से करेगी। इस संदर्भ में गांधीजी ने कहा है – "आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिए । हर एक गाँव में पंचायत का राज होगा। उसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी। इसका मतलब यह है कि हर एक गाँव को अपने पाँव पर खड़ा होना होगा – अपनी जरूरतें खुद पूरी कर लेनी होंगी, ताकि वह अपना सारा कारोबार खुद चला सकें। यहाँ तक कि वह सारी दुनिया के खिलाफ अपनी रक्षा खुद कर सके। उसे तालीम देकर इस हद तक तैयार करना होगा कि वह बाहरी हमले में अपनी रक्षा करते हुए मर-मिटने के लायक बन जाये। इस तरह आखिर हमारी बुनियाद व्यक्ति पर होगी।"[62] ऐसा समाज अनगिनत गाँवों का बना होगा और व्यक्ति उसका मध्यबिन्दु होगा। व्यक्ति हमेशा गाँव के लिए मिटने को तैयार होगा। गाँव अपने आस-पास के गाँवों के लिए तैयार होगा। इस तरह सारा समाज ऐसे लोगों का होगा, जो किसी पर हमला नहीं करते, हमेशा नम्र रहते हैं।

ग्राम पंचायतें ग्राम की सारी व्यवस्थाएं करेंगी और स्वायतशासी निकाय होंगी। इन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त होगा। इस व्यवस्था में प्रत्येक गाँव आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी और स्वतंत्र होगा। पंचायत राज में धार्मिक और आर्थिक समानता के अधिकार पर प्रकाश डालते हुए गांधीजी कहते हैं – "अगर हिन्दुस्तान के हर एक गाँव में कभी पंचायती राज कायम हुआ, तो मैं अपनी इस तस्वीर की सच्चाई साबित कर सकूँगा, जिसमें सबसे पहला और सबसे आखिरी दोनों बराबर होंगे या यों कहिए कि न कोई पहला होगा न आखिरी। ..... इस तस्वीर में उन मशीनों के लिए कोई जगह नहीं होगी, जो मनुष्य की मेहनत की जगह लेकर कुछ लोगों के हाथों में सारी ताकत इकट्ठी कर देती है।"[63] इस व्यवस्था से जिस समाज का गठन होगा वह निश्चित रूप से बहुत ऊँचे दर्जे की सभ्यता वाला होगा और वह इतना मजबूत होगा कि जबरदस्त-से-जबरदस्त आँधी भी उसे हिला नहीं सकती।

निष्कर्षतः गाँवों के प्रबन्ध और प्रशासन के मामले में राष्ट्रीय अथवा प्रान्तीय सरकारों के हस्तक्षेप को कम करने के लिए महात्मा गांधी ने पंचायत राज की अवधारणा प्रस्तुत की। वे लोकतंत्र की सफलता विकेन्द्रीकरण में मानते थे। इसलिए वे आत्मनिर्भर,

स्वशासित गाँव-पंचायतों को विकेन्द्रीकरण द्वारा राजनीतिक और आर्थिक शक्ति देने के पक्षधर थे। इन स्थानीय संस्थानों को वे अहिंसात्मक संगठनों का आदर्श समझते थे। उनके मत में स्वतंत्रता नीचे से शुरू होनी चाहिए।

(iii) गांधीवादी आर्थिक दर्शन :

महात्मा गांधी केवल राजनीतिक स्वतंत्रता को पर्याप्त नहीं मानते थे। उनके मतानुसार राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ आर्थिक स्वतंत्रता परम आवश्यक है। मार्क्स के समान वे भी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विरोधी थे। वे एक ओर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को तो दूसरी ओर बेकारी और भूखमरी को खत्म कर देना चाहते थे, इसलिए उन्होंने पूँजीवादी सम्पत्ति के स्थान पर निक्षिप्त सम्पत्ति का और वैतनिक श्रम के स्थान पर उदर-पोषण श्रम का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस प्रकार उन्होंने आर्थिक समस्याओं पर विचार करते हुए भी अपनी मूलभूत नैतिक दृष्टि का त्याग नहीं किया। उनका विश्वास था – "सच्चा अर्थशास्त्र कभी उच्चतम नैतिक मानकों का विरोधी नहीं होता। वह अर्थशास्त्र झूठा और निराशाजनक है जो कुबेर की पूजा को प्रश्रय देता है और शक्तिशाली लोगों को दुर्बल लोगों की कीमत पर धन संचय करने में मदद करता है। वह तो मौत का पैगाम है। इसके विपरीत सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय सुनिश्चित करता है, दुर्बलतम व्यक्तियों सहित सबकी भलाई को बढावा देता है और ढंग की जिंदगी जीने के लिए अपरिहार्य होता है।"[64] उनका आर्थिक दृष्टिकोण उनके नैतिक और आध्यात्मिक जीवन दर्शन की परिणति है । उन्होंने आर्थिक समाधानों को व्यक्ति की नैतिक भलाई की कसौटी पर कसा और मानवीय मूल्यों पर बल दिया। मनुष्य रूपी पूँजी को महत्त्वपूर्ण बताते हुए उन्होंने साधन और साध्य की शुद्धता को अनिवार्य बताया है।

भारत के कौटुम्बिक जीवन एवं प्राचीन ग्राम-साम्य पर आधारित महात्मा गांधी की आर्थिक योजनाएँ अपने परिवेश के समुचित विचार से निर्मित हुई हैं। उनमें स्वावलम्बन का विशेष महत्त्व है। वे विकेन्द्रीकरण द्वारा समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादन के कार्य में सहभागी बनाती हैं। परिवेश की भिन्नता को देखते हुए ही महात्मा गांधी ने युरोपीय पद्धति के औद्योगिकीकरण का विरोध किया, क्योंकि अन्य देशों की प्रतिस्पर्धा करते हुए बड़े-बड़े कल कारखानों को स्थापित कर हम भारतीय जनता को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी एवं स्वतंत्र नहीं बना सकते। इसलिए वे बड़े कारखानों के स्थान पर ग्रामोद्योग के विकास के पक्षधर थे। उनका मानना था कि प्रत्येक गाँव को आत्मनिर्भर होना चाहिए, अपनी जरूरत की वस्तुएँ जहाँ तक संभव हो स्वयं ही तैयार करनी चाहिए। इसलिए उन्होंने कृषि के पूरक रूप में कुटीर उद्योगों का प्रचार किया। आवश्यकताएँ बढाने, अधिक उत्पादन करने और नित्य नई मशीनें लगाने की जीवन पद्धति उन्हें स्वीकार नहीं थी।

इस प्रकार महात्मा गांधी की आर्थिक विचारधारा नैतिक आधार पर प्रतिष्ठित है। वे शोषण जैसी आर्थिक समस्याओं का समाधान तो चाहते थे, पर उन्हें परिवर्तन की अहिंसात्मक पद्धति पर आस्था थी। अपने देश के आर्थिक ढाँचे को वे अपनी विशिष्ट परिस्थितियों की उपेक्षा कर पश्चिमी पद्धति में ढालने के पक्ष में नहीं थे।

(क) हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त (ट्रस्टीशिप) :

महात्मा गांधी का हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त उनकी मानवतावादी आस्था पर आधारित है जिसे उन्होंने सहज मानवीय प्रक्रिया के रूप में ही देखा। वे पूँजीपतियों का हृदय परिवर्तन कर उन्हें संरक्षक बनाना चाहते थे। हृदय परिवर्तन के द्वारा आर्थिक समानता की स्थापना ही संरक्षकता (ट्रस्टीशिप) का सिद्धान्त है। मेहनतकश वर्ग को शोषणमुक्त करने और उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण के अहिंसक विकल्प के रूप में उन्होंने न्यासिता की कल्पना सामने रखी।

हृदय परिवर्तन या ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का अभिप्राय है – पूँजीपति अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं से अधिक सम्पत्ति को समाज की धरोहर समझ कर समाजहित में उसका उपयोग करें। गांधीजी लिखते हैं – "जब तक मनुष्य अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के त्याग के लिए तैयार नहीं है; उन्हें सम्पत्ति की ओर अपना रुख बदल देना चाहिए और सम्पत्ति के स्वामी की तरह नहीं; उसके संरक्षक (ट्रस्टी) की तरह आचरण करना चाहिए और सम्पत्ति का उपयोग समाज के हित के लिए करना चाहिए।"[65] यह सिद्धान्त धर्मशास्त्रों के अपरिग्रह के विचार पर आधारित है। आर्थिक क्षेत्र में साम्यवाद लाने का गांधीजी का यह एक अहिंसात्मक उपाय है। उनका मानना था कि धन के समान वितरण का प्रश्न हिंसक साधनों से हल नहीं हो सकता। यह तो हृदय परिवर्तन के आध्यात्मिक साधनों से ही संभव है। हिंसापूर्ण मार्ग समाज में कटुता, रोष और वर्ग संघर्ष का वातावरण तैयार करता है इसलिए गांधीवादी दर्शन इसे पशुबल कह कर इसका निषेध करते हुए आत्मबल के प्रयोग का समर्थन करता है। संसार के प्रत्येक मनुष्य को सत्य, अहिंसा और प्रेम के साथ अहिंसात्मक असहयोग करके सत्याग्रह के साधनों से शोषकों के हृदय में शोषितों के प्रति सहानुभूति, करुणा एवं प्रेम के भाव जाग्रत करने चाहिए। जब हम शोषकों के हृदय में मानवता के प्रति नैतिक कर्त्तव्यों को समाविष्ट करा देंगे उनमें निजी अधिकारों को त्यागने की प्रेरणा अपने-आप उत्पन्न होगी। इसके विपरीत यदि क्रांति के द्वारा समाज से पूँजीपति वर्ग का उन्मूलन किया जाए तो सम्पत्ति के उत्पादन में समाज उनके योगदान से वंचित रह जायेगा। यही कारण है कि महात्मा गांधी ने आर्थिक समानता की स्थापना के लिए हृदय परिवर्तन या ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त समाज के समक्ष

रखा। उनका कहना है – "हिंसात्मक क्रान्ति से मनुष्य उन दिव्य शक्तियों को खो बैठेगा, जिनके द्वारा उसे सम्पत्ति के संग्रह का हुनर मालूम रहता है। अहिंसात्मक असहयोग ही एक ऐसा अचूक साधन है जो ट्रस्ट पद्धति को ला सकता है; क्योंकि समाज में धनवान बिना गरीब के सहयोग के धन संग्रह नहीं कर सकता।"[66] इस प्रकार समाज में आर्थिक समानता के लिए पूँजी और श्रम के अंतहीन संघर्ष का अंत आवश्यक है और यह तभी संभव है जब पूँजीपतियों का हृदय परिवर्तित हो और वे अपने आपको मालिक न समझकर न्यासी या संरक्षक समझें।

आलोचकों ने न्यासिता के सिद्धान्त की व्यावहारिकता पर सन्देह व्यक्त किया है। उनका मानना है कि सम्पत्ति के प्रति अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के चलते यह संभव नहीं है कि मनुष्य अपनी समपत्ति को अपने मन से दूसरों की धरोहर समझे। बावजूद इसके महात्मा गांधी को इस सिद्धान्त की व्यावहारिकता पर पूर्ण विश्वास था। उन्होंने लिखा है – "मुझे पक्का विश्वास है कि अन्य सभी सिद्धान्तों के लोप हो जाने के बाद भी यह सिद्धान्त जीवित रहेगा। यह दर्शन और धर्म द्वारा अनुमोदित है। धनवान लोगों ने इस सिद्धान्त के अनुसार आचरण नहीं किया है, इससे सिद्धान्त झूठा सिद्ध नहीं हो जाता, इससे सिर्फ धनवानों की दुर्बलता सिद्ध होती है।"[67] उनके अनुसार संरक्षकता का यह सिद्धान्त अहिंसा की नीति का आवश्यक परिणाम है।

निष्कर्षतः मानवतावादी आस्था पर आधारित महात्मा गांधी का हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त समाज की पूँजीवादी व्यवस्था को समतावादी व्यवस्था में रूपांतरित करने का साधन है। अपरिग्रह विचार पर आधारित यह आर्थिक क्षेत्र में समानता लाने का एक अहिंसात्मक उपाय है। इस व्यवस्था में कोई व्यक्ति अपने हित के लिए समाज के हितों की अनदेखी करते हुए अपनी सम्पत्ति का इस्तेमाल करने के लिए स्वतंत्र नहीं है। इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देना कठिन अवश्य है पर असंभव नहीं। इसके लिए वर्तमान मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन तथा जीवन के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण में परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक है। दृष्टिकोण का यह परिवर्तन धार्मिक शिक्षा की सहायता से आसानी से किया जा सकता है। परमात्मा के पितृत्व और मनुष्य के बंधुत्व में विश्वास रखने वालों के लिए यह सिद्धान्त सहज ग्राह्य है।

(ख) यंत्रनीति :

मनुष्य जैसे-जैसे विकास के पथ पर अग्रसर हो रहा है वैसे-वैसे उसके जीवन में यंत्रों का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। आज वैज्ञानिकता ने मनुष्य को यांत्रिकता से ऐसा ग्रस लिया है कि वह विवेकहीन एवं जड़ बन गया है। महात्मा गांधी ने इस बुराई के उन्मूलन के लिए

मशीन युग का खुलकर विरोध किया। वास्तव में गांधीजी न तो वैज्ञानिक आविष्कारों के विरोधी थे और न ही यंत्रों के। उनका विरोध मशीन के प्रति सनक और बिना सोचे-समझे उनके अंधाधुंध प्रयोग के प्रति था। वे मानव जीवन में एक निश्चित सीमा तक ही यंत्रों के प्रयोग को उचित मानते थे क्योंकि मशीनों का अत्याधिक प्रयोग मनुष्य के हाथ-पैरों को बेजान बना देता है। उन्होंने लिखा है – "मशीनों की प्रतियमान विजय मुझे चकाचौंध नहीं कर सकती। मैं सभी विनाशकारी मशीनों का पूर्णतया विरोधी हूँ। मैं ऐसे सीधे-सादे औजारों, उपकरणों और यंत्रों का स्वागत करता हूँ, जो व्यक्ति के श्रम को बचाते हैं और लाखों झोपड़ियों के काम के बोझ को हल्का करते हैं।"[68] यंत्रों का मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु मानव जीवन में इनका अत्याधिक प्रयोग एक ओर लोगों को निकम्मा बनाएगा तो दूसरी ओर बेरोजगारी की समस्या खड़ी करेगा। समाज में सबकी भलाई के लिए उपयोगी यंत्रों का विरोध महात्मा गांधी ने कभी नहीं किया।

गांधीजी यंत्रों के दो वर्ग स्वीकार करते हैं – प्रथम, वे जो श्रम करने वाले मनुष्य या पशु के स्नायुओं को कुछ विश्राम प्रदान करने वाले हो; जैसे चक्की, चरखा, साईकिल, सीने की मशीन आदि। दूसरे, वे यंत्र जो श्रम करने वाले मनुष्य या पशु का स्थान ग्रहण करने वाले हों; जैसे आटा पीसने की मील, शक्कर के कारखाने, कपड़े की मीलें इत्यादि। इनमें प्रथम प्रकार के यंत्रों और उनसे होने वाले सुधार सामान्यतः इष्ट है, परन्तु दूसरे प्रकार के यंत्रों के उपयोग में विवेक और सावधानी आवश्यक है। ऐसे यंत्रों को मर्यादित रखना होगा। इनसे बेकारी और शोषण में वृद्धि होने का खतरा है। 'हरिजन' में उन्होंने लिखा है – "मैं ऐसी मशीनों का कतई हिमायती नहीं हूँ जो या तो बहुत से लोगों को गरीब बनाकर मुट्ठी भर लोगों को अमीर बनाती हैं या अनेक लोगों के उपयोगी श्रम को अकारण विस्थापित कर देती हैं।"[69] इस प्रकार गांधीजी यंत्र विरोधी नहीं थे, पर यंत्र मनुष्य का स्वामी बन जाये इसके वे सख्त विरोधी थे। वे चाहते थे यंत्र का लक्ष्य मानव कल्याण हो लोभ नहीं।

यंत्रों का संसार में अपना स्थान है इसे नकारा नहीं जा सकता। इनका कभी लोप नहीं होगा। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि अनिवार्य मानव श्रम के स्थान पर मशीनों का प्रयोग प्रारंभ हो और लोग बेकार होकर भूखे मरने लगे। वे आधुनिक यंत्र जो जीवन को सुविधाजनक बनाए और श्रम को बचाने के लिए आवश्यक हैं उन्हें अपनाया जा सकता है पर उनका नियंत्रण राज्य के हाथ में होना चाहिए। लोकोपयोगी सेवाओं के लिए इस्तेमाल की जाने वाली भारी मशीनें जिनका मानव श्रम के रूप में कोई विकल्प संभव नहीं है, निश्चित रूप से अनिवार्य है, लेकिन उन पर राज्य का स्वामित्व होना चाहिए और उनका प्रयोग लोगों के हित के लिए ही किया जाना चाहिए। सबकी भलाई के लिए प्रयोग में आने वाले यंत्रों के प्रयोग और आविष्कार का गांधीजी ने स्वागत किया है।

निष्कर्षतः महात्मा गांधी के अनुसार यंत्र एक ऐसा राक्षस है जो समाज के लाखों-करोड़ों लोगों का शोषण और दमन करता है। जब तक मानव अर्थव्यवस्था में यंत्रों का प्रयोग होता रहेगा तब तक समाज में सभी लोगों को बराबरी का दर्जा दिये जाने की बात केवल कल्पना ही है। यह तभी संभव है जब मानव अर्थव्यवस्था में यंत्रों का कोई स्थान न हो। परन्तु सबकी भलाई के लिए प्रयोग किये जाने वाले भारी यंत्र जिनकी पूर्ति मानव अपने श्रम से नहीं कर सकता, उन यंत्रों के प्रयोग को गांधीजी अनिवार्य मानते हैं।

(ग) श्रमनीति :

मार्क्सवादी वर्ग संघर्ष की नीति को अस्वीकार करते हुए महात्मा गांधी पूँजी तथा श्रम के बीच शाश्वत विरोध को नहीं मानते थे। वे चाहते थे कि पूँजी और श्रम एक-दूसरे के पूरक हों और एक दूसरे की सहायता करें। वे लिखते हैं – "मैंने सदा कहा है कि मेरा आदर्श तो यह है कि पूँजीपति मजदूर एक-दूसरे के पूरक और सहायक की तरह काम करें। उन्हें एक बड़े परिवार की तरह रहना चाहिए, जिसमें एकता और मेलजोल कायम रहे। पूँजीपति न सिर्फ मजदूरों के भौतिक कल्याण, बल्कि नैतिक कल्याण की भी देख-रेख करें और पूँजीपति अपने नीचे काम करने वाले मजदूरों की भलाई के लिए न्यासी बन कर रहें।"[70] उन्हें पूँजीपति और श्रमिक की मौलिक समानता में विश्वास था। यह समानता पूँजीपतियों के विनाश से नहीं बल्कि उनके हृदय परिवर्तन के प्रयास से ही संभव थी।

पूँजी और श्रम एक दूसरे पर निर्भर है इसलिए दोनों के बीच टकराव की स्थिति नहीं आनी चाहिए। पूँजी और श्रम के बीच हितों का टकराव है, दोनों को अपने कर्त्व्यों को पूरा करके इस टकराव को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। गांधी ने मजदूरों के साथ ईमानदारी और न्यायपूर्ण व्यवहार और यथासम्भव अधिक-से-अधिक पारिश्रमिक देने का अनुरोध मिल मालिकों से किया। वे चाहते थे कि मजदूरों के प्रति पूँजीपतियों की मनोवृत्ति मात-पिता या बंधु-बांधव की सी हो जाए और वे उन्हें अपनी सम्पत्ति का साझेदार बना लें। "वास्तव में मजदूर और पूँजीपति दोनों को एक दूसरे के तथा उपभोक्ताओं के ट्रस्टी की तरह कार्य करना चाहिए।"[71] यदि पूँजीपति और मजदूर दोनों न्यासी की तरह कार्य करें और अपने हित को समाज के वृहत हित के संदर्भ में देखें तो पूँजी और श्रम के बीच का संघर्ष स्वतः समाप्त हो जाएगा।

महात्मा गांधी का मानना था कि श्रमिक अपने दायित्वों को मालिकों की तुलना में अधिक ईमानदारी के साथ निभाते हैं। मालिकों को भी श्रमिकों के प्रति इसी प्रकार अपना दायित्व निभाना चाहिए। अगर श्रमिक को लगता है कि उसे उचित पगार नहीं मिल रही है या रहने के लिए मकानों की पर्याप्त व्यवस्था नहीं है तो उन्हें सच्चाई के रास्ते पर चलते हुए मालिकों के खिलाफ संघर्ष करना चाहिए। परन्तु ऐसा करते हुए अपने कर्त्तव्यों के निर्वाह से

मुँह नहीं मोड़ना चाहिए। गांधीजी श्रमिकों को उद्योग का आंशिक स्वामित्व दिलाने के पक्ष में थे। उनके अनुसार श्रमिकों को उद्योगों के नियंत्रण और प्रबन्ध में भाग लेने का अधिकार होना चाहिए। उन्हें पर्याप्त फुरसत, जीवन यापन के लिए आवश्यक मजदूरी, जीवन की स्वास्थ्यपूर्ण परिस्थिति और नागरिकता के पूर्ण अधिकार मिलने चाहिए। अपनी उचित माँगों की पूर्ति हेतु उन्होंने श्रम सगंठन बनाने और हड़ताल करने का भी परामर्श दिया है। उन्होंने सपष्ट कहा है, "मैं जानता हूँ कि न्याय पाने के लिए हड़ताल करना कामगारों का सहज अधिकार है, लेकिन पूँजीपतियों द्वारा मध्यस्थता के सिद्धान्त को स्वीकार करते ही हड़ताल अपराध करार दे दी जानी चाहिए।"[72] न्याय प्राप्ति के अन्य उपायों के असफल होने पर अहिंसक हड़ताल करना श्रमिकों का जन्म सिद्ध अधिकार है।

गांधीजी शारीरिक श्रम को यज्ञ के समकक्ष मानते थे। श्रम की महिमा और गौरव की व्याख्या करते हुए श्रम के समर्थन में उन्होंने भगवद्गीता के अनेक श्लोक उद्धृत किए थे। उनके अनुसार श्रम के सिद्धान्त का उल्लंघन ही वर्तमान आर्थिक विषमता का मूल कारण है। "भारत में उन सभी लोगों के लिए काम मौजूद है जो ईमानदारी से अपने हाथ-पैरों से काम करना चाहते हैं। ईमानदारी की कमाई करने के इच्छुक व्यक्ति के लिए कोई काम घटिया नहीं है। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि हम भगवान के दिए हाथ-पैरों से काम करने के लिए तैयार हों।"[73] पर यह चरम दुर्भाग्य की बात है कि लाखों व्यक्तियों ने अपने हाथों का हाथों की तरह उपयोग करना ही छोड़ दिया है।

निष्कर्षतः महात्मा गांधी की श्रम नीति उदार एवं न्याय संगत है। वे जीवन में श्रम को अनिवार्य मानते थे। अगर संसार के सभी व्यक्ति अपने जीवन में श्रम को अपनायें तो आर्थिक विषमता स्वयं खत्म हो जायेगी। महात्मा गांधी पूँजीपतियों और श्रमिकों के सम्बन्धों में नैतिकता, सौहार्दता एवं परस्पर सम्मान की भावना का प्रसार देखना चाहते थे। वे चाहते थे कि समाज के हित को ध्यान में रखते हुए मजदूर और पूँजीपति दोनों एक दूसरे के साथ न्यासी की तरह कार्य करें।

(घ) कृषि-नीति :

भारत के ग्राम और ग्राम में रहने वाले कृषक महात्मा गांधी के विचारों के केन्द्र में थे। अंग्रेज राज ने कृषकों का भरपूर शोषण कर कृषि उद्योगों को नष्टप्रायः कर दिया। कृषकों के इस शोषण के चलते उनके हृदय में अंग्रेजों के प्रति रोष और कृषकों के प्रति सहानुभूति थी। महात्मा गांधी कृषि को भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार मानते थे इसलिए कृषकों के अधिकारों के पक्षपाती थे। भारत की जनसंख्या के लगभग 75 प्रतिशत लोग खेतिहर हैं। उन्हें उनके श्रम के प्रतिफल से वंचित कर हम नहीं कह सकते कि हमारे अन्दर स्वशासन की भावना विद्यमान है। कृषकों के हित में अपनी आवाज बुलंद करते हुए उन्होंने

लिखा है – "किसानों का – फिर वे भूमिहीन मजदूर हों या मेहनत करने वाले जमीन मालिक हों – स्थान पहला है। उनके परिश्रम से पृथ्वी फलप्रसू है और समृद्ध हुई है और इसलिए सच कहा जाये तो जमीन उनकी ही है या होनी चाहिए, जमीन से दूर रहने वाले जमींदारों की नहीं।"[74] किसानों को उनका अधिकार न मिलने पर गांधीजी उन्हें अहिंसक आन्दोलन की छूट देते हुए कहते हैं – "किसानों को उनकी योग्य स्थिति मिलनी ही चाहिए। यदि विधान-सभाएँ किसानों के हितों की रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध होती हैं तो किसानों के पास सविनय अवज्ञा और असहयोग का अचूक इलाज तो होगा ही।"[75] किसानों को उनकी जमीन पर अधिकार और उनके जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति किए बगैर भारत की उन्नति की बात करना निरर्थक है।

गांधीजी ने शिक्षित कृषकों को नगर की ओर उन्मुख देखकर उनकी कटु आलोचना की। क्योंकि ऐसा करके वे न घर के रहेंगे न घाट के। अतएव उन्होंने उनको गाँव की ओर लौटने का निर्देश देते हुए कहा है, "मेरा विश्वास है और मैंने इस बात को असंख्य बार दुहराया है कि भारत अपने चन्द शहरों में नहीं बल्कि सात लाख गाँवों में बसा हुआ है। लेकिन हम शहरवासियों का ख्याल है कि भारत शहरों में ही है और गाँवों का निर्माण शहरों की जरूरतें पूरी करने के लिए ही हुआ है। हमने कभी यह सोचने की तकलीफ ही नहीं उठाई कि उन गरीबों को पेट भरने जितना अन्न और शरीर ढकने जितना कपड़ा मिलता है या नहीं और धूप तथा वर्षा से बचने के लिए उनके सिर पर छप्पर है या नहीं।"[76] वे उन्हें गाँवों में रहकर ही कृषि की सर्वतोमुखी उन्नति करने की सलाह देते थे। छोटे कृषकों को अपनी जमीन और मेहनत का पूर्ण लाभ मिले इसके लिए गांधीजी ने सहकारी खेती की दिशा में विचार किया। उनका मानना था कि सहकार की भावना से श्रम विभाजन की पर्याप्त गुंजाइश रहेगी। इससे समय की बचत होगी और उत्पादन क्षमता भी बढ़ेगी। उन्होंने लिखा है- "सहकार की मेरी कल्पना यह है कि सब मालिक मिलजुल कर जमीन पर कब्जा रखें और जोतने, बोने, फसल काटने वगैरा का काम भी मिलजुल कर ही करें। इससे श्रम, पूँजी और औजार वगैरा की बचत होगी। मालिक मिलजुल कर काम करेंगे और पूँजी, औजार, जानवर और बीज वगैरा पर उनका मिलाजुला हक होगा। मेरी कल्पना की सहकारी खेती से जमीन का कायापलट हो जायेगा और लोगों की गरीबी और बेकारी का काला मुँह हो जायेगा।"[77] सामूहिक कृषि पर अमल करके ही कृषि का पूरा फायदा उठाया जा सकता है। गाँव की जमीन को विभाजित कर उत्पादन के बँटे हुए प्रयास करने के बजाय सामूहिक तौर पर फसल लगाकर उत्पादन का समान अनुपात में बँटवारा अधिक सार्थक

होगा। इस सहकार पद्धति में ग्रामवासी तकनीकी विशेषज्ञ के मार्गदर्शन में सुनियोजित तरीके से काम करेंगे और मुनाफा सभी सदस्य उत्पादकों में बाँटा जायेगा।

आधुनिक काल में परावलम्बन का खतरा देखकर उन्होंने कृषि की उन्नति के लिए निम्नलिखित उपाय सुझाये :

1. खेती की उन्नति के लिए गोचर-भूमि की सुविधा आवश्यक है।
2. फल वाले वृक्षों के उत्पादन की ओर विशेष ध्यान दिया जाए।
3. मँझोलियों के उन्मूलन का प्रयास किया जाए।
4. कृषकों को बीज, खाद आदि खरीदने में सहायता दी जाए।
5. मालगुजारी या कर-व्यवस्था ऐसी हो कि कृषकों पर बोझ न बने।
6. अधिक पैसे कमाने के लालच से तम्बाकू, अफीम आदि की व्यापारिक खेती न की जाए।[78]

निष्कर्षतः महात्मा गांधी भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार कृषि और कृषकों के सर्वतोमुखी उन्नति के पक्षधर थे। कृषकों के प्रति अपनी सहानुभूति के चलते वे किसानों को उनकी जमीन पर अधिकार दिलाना चाहते थे। उनके अनुसार कृषि के विकास के बगैर भारत के विकास की बात करना व्यर्थ है। छोटे किसानों के हित के लिए उन्होंने सहकारी खेती की कल्पना भी की जिससे किसानों की गरीबी दूर हो। वस्तुतः महात्मा गांधी ने कृषकों के माध्यम से भारतीय आत्मा को समझने का प्रयत्न किया और देश की वास्तविक उन्नति हेतु कृषकोद्धार की प्रेरणा दी। उनकी कृषि नीति में श्रम का महत्त्व और देश के अभ्युत्थान की भावना है।

(ङ) ग्रामोद्योग :

भारत के सात लाख गाँवों से दरिद्रता का उन्मूलन करने, नगर और ग्राम की आय में विषमता दूर करने, भौतिकता और विदेशिता के स्थान पर आध्यात्मिकता और स्वदेशिता लाने, स्वदेशी उद्योगों का संरक्षण एवं विकास करने के लिए महात्मा गांधी ने ग्रामोद्योग के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया। इसके पीछे उनकी कल्पना यह थी कि हमें अपने दैनिक जीवन की आवश्यकताएँ गाँवों में बनी चीजों से ही पूरी करनी चाहिए। ग्रामोद्योग की स्थापना करके वे व्यापारिक और नागरिक सभ्यता के स्थान पर एक नवीन विकेन्द्रित ग्रामीण व्यवस्था का निर्माण करना चाहते थे ताकि कतिपय नगर असंख्य गाँवों का शोषण न कर सके और प्रत्येक गाँव एक स्वावलम्बी इकाई बन जाए। उन्होंने लिखा है – "गाँवों का पुनर्जीवन तभी संभव है जब उसका शोषण बंद हो। विशाल पैमाने के औद्योगीकरण से अनिवार्यतः गाँवों का निष्क्रिय अथवा सक्रिय शोषण होगा, क्योंकि उसके साथ प्रतियोगिता और विपणन की समस्याएँ जुड़ी है। इसलिए हमें गाँवों की आत्मनिर्भरता पर बल देना होगा जिससे वे अपने इस्तेमाल की चीजें स्वयं तैयार करेंगे। ग्राम उद्योगों का स्वरूप

अक्षुण्ण रखा जाए तो फिर ग्रामवासियों द्वारा ऐसी आधुनिक मशीनों और औजारों का प्रयोग किए जाने पर कोई आपत्ति नहीं है जिन्हें वे खरीदकर इस्तेमाल कर सकते हों।"[79] यदि गांधीजी का यह सपना साकार हो जाए तो भारत के सात लाख गाँवों में से हर एक गाँव समृद्ध प्रजातंत्र बन जाएगा। वहाँ काम के अभाव में कोई बेकार नहीं रहेगा। सभी लोग किसी न किसी काम धंधे में लगे रहेंगे।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए गांधीजी ने विभिन्न स्वदेशी उद्योगों के विकास पर बल दिया। वे परिवर्तित समयानुकूल साधनों के आधार पर पुराने उद्योगों का पुनरुत्थान और नवीनों का प्रचार चाहते थे। वे गाँवों के प्राचीन काल के कृषि, कढ़ाई, बुनाई, पिराई, लोहारी, बढ़ईगिरी आदि और नये युग के कागज बनाना, मधुमक्खियाँ या रेशम के कीड़े पालना, चमड़ा पकाना, खिलौने बनाना आदि उद्योगों का अधिक से अधिक प्रसार करने के पक्षपाती थे। वे इन पर विशेष ध्यान दे निष्प्राण हो चुके या जो निष्प्राण होने की प्रक्रिया में है उन ग्रामोद्योगों में नवजीवन का संचार करना चाहते थे जिससे गाँवों में ही आवश्यकता की अधिकांश वस्तुओं का निर्माण हो और गाँव के लोगों को रोजगार मिले। गांधीजी की मान्यता थी कि ग्रामोद्योग की पुनर्स्थापना ही देहाती बेरोजगारी और निर्धनता को नष्ट करने का असली मार्ग है। रोटी के साथ ही वस्त्र की भी आवश्यकता होने के कारण सुत-कताई और बुनाई के जरिए सैंकड़ों लोगों को रोजी रोटी मिल सकेगी, इस बात का पूरा विश्वास गांधीजी को था। इसलिए चरखे को ग्रामोद्योग का केन्द्र बिन्दु मानकर उसकी परिधि में कागज, साबुन, तेल आदि उद्योगों को उन्होंने जोड़ दिया। उनके लिए चरखा अहिंसा का प्रतीक तथा खादी अहिंसा के आधार पर खड़ी एक जीवन पद्धति को प्रकट करती थी। चर्खा-खादी का यह उद्योग गांधी की आर्थिक योजना का मुकुट है जो स्वावलम्बन, अहिंसा, विकेन्द्रीकरण आदि गुणों से ओत-प्रोत है। एक तरफ यह भूखे को भोजन और नंगे को वस्त्र प्रदान करता है तो दूसरी तरफ समाज को अर्थ-सम्पन्न भी करता है। उन्होंने लिखा है – "आप जरा मेरे इस चरखे को परखकर देखिए। आपको जितना मैं सिखा सकता हूँ, उससे बहुत अधिक यह सिखा सकता है। यह आपको धैर्य सिखायेगा, उद्योग करना सिखायेगा और सादगी की सीख देगा। यह चरखा भारत के करोड़ों क्षुधार्थ मानवों के लिए मुक्ति का प्रतीक है।"[80] अर्थात् सबको सुख-शांति दे रहा है। ग्रामवासियों के लिए चरखा कृषि का पूरक है और उन्हें गरिमा प्रदान करने वाला है। इससे जुड़ने पर लोगों को रोजगार मिलता है, क्योंकि चरखे के साथ अनेकों उद्योग जुड़े हैं जैसे ओटाई, धुनाई, तानी करना, माड़ी देना, रंगाई, बुनाई आदि। इनके कारण गाँव के बढ़ई भी व्यस्त रहते हैं। गांधीजी के लिए चरखा चलाना आत्मशुद्धि का साधन भी था।

निष्कर्षतः महात्मा गांधी ग्रामोद्योग के माध्यम से गाँवों को आत्मनिर्भर बनाकर ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करना चाहते थे। ग्रामोद्योग जहाँ एक ओर गाँवों को शहरों

के शोषण से मुक्ति दिलाते हैं, वहीं दूसरी ओर ग्रामिणों को रोजगार प्रदान कर उन्हें स्वावलम्बी भी बनाते हैं। स्वावलम्बन गांधी नीति का मूलमंत्र है। उसी मंत्र का प्रयोग करने के लिए उन्होंने प्रत्येक गाँव में उद्योग-धंधों के प्रचलन पर बल दिया। उनके मतानुसार ग्रामोद्योग द्वारा गाँवों की जीवन सम्बन्धी सभी आवश्यकताएँ पूरी होंगी और वे आत्मनिर्भर होंगे।

(iv) गांधीवादी शिक्षा दर्शन :

महात्मा गांधी ने समय-समय पर अपनी विचार सभाओं तथा 'हरिजन' के अनेक लेखों में अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों को व्यक्त किया है। संसार के अधिकांश लोग महात्मा गांधी को महान राजनीतिज्ञ ही मानते हैं, लेकिन उन्होंने राजनीतिक क्रांति के साथ-साथ सामाजिक क्रांति को भी जन्म दिया जिसमें शिक्षा का प्रमुख स्थान था। उनकी बुनियादी शिक्षा योजना उनके शिक्षा दर्शन का मूर्त्त रूप थी। इस शिक्षा का लक्ष्य भारतीय जनता के हृदय तथा मन को पवित्र करके एक शोषण विहीन समाज की स्थापना करना था। इस दृष्टि से महात्मा गांधी एक महान शिक्षा-शास्त्री थे। शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है – "शिक्षा से मैं यह अर्थ लेता हूँ कि वह बच्चे और मनुष्य की काया, बुद्धि और आत्मा में जो कुछ श्रेष्ठ है, उसे समग्र रूप से उभार दे।"[81] अर्थात शरीर, मन और आत्मा में पाये जाने वाले सर्वोत्तम गुणों का चहुँमुखी विकास ही शिक्षा है। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए वे फिर लिखते हैं – "साक्षरता न तो शिक्षा की परिणति है और न उसका आरम्भ। यह तो केवल स्त्री अथवा पुरुष को शिक्षित करने के साधनों में से एक है। साक्षरता अपने आप में शिक्षा नहीं है। इसलिए मैं बच्चे की शिक्षा का आरंभ उसे किसी उपयोगी दस्तकारी को सिखाकर करूँगा और यह कोशिश करूँगा कि वह प्रशिक्षण आरम्भ होते ही कोई-न-कोई चीज बनाने लगे।.....मेरी धारणा है कि शिक्षा कि ऐसी प्रणाली के अन्तर्गत बुद्धि और आत्मा का अधिकतम विकास किया जा सकता है।"[82] गांधीजी के विचार में मनुष्य केवल शरीर, बुद्धि, हृदय और आत्मा नहीं है, इसलिए वे शिक्षा के विषयों और साधनों से अधिक व्यक्तित्व के विकास पर जोर देते हैं। मनुष्य की पूर्णता उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास से है, अतः शिक्षा का यह अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा का संगतिपूर्ण विकास करे। इस प्रकार महात्मा गांधी शिक्षा का अर्थ व्यापक रूप से ग्रहण करते हैं जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण जीवन समाविष्ट है।

महात्मा गांधी आदर्श शिक्षा को मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का साधन मानते थे। उनके मतानुसार शिक्षा वही है जो मुक्त करे। सर्वांगीण मुक्ति की उपेक्षा कर सिर्फ जानकारी का खजाना देने वाली शिक्षा को वे अधूरी मानते थे। इस सर्वांगीण मुक्ति या व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए शरीर, मन और बुद्धि के समन्वित विकास की आवश्यकता है।

उनकी दृष्टि में इस समुचित विकास की व्यवस्था करने वाली शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है। गांधीजी ने अपने शिक्षा सम्बन्धी विचार बुनियादि शिक्षा, नई तालीम और स्त्री-शिक्षा आदि के संदर्भ में व्यक्त किए हैं।

(क) नई तालीम :

महात्मा गांधी का नई तालीम से आशय उस शिक्षा पद्धति से है जिसमें अक्षर ज्ञान की अपेक्षा हाथ की शिक्षा या श्रम को अधिक महत्त्व दिया जाए। जिस देश की अस्सी प्रतिशत जनता खेती करने वाली है और दस प्रतिशत उद्योगों में काम करने वाली है, वहाँ शिक्षा को साहित्यिक बनाकर बच्चों को हाथ के काम के लिए अयोग्य बना देना गुनाह है। इसलिए बच्चों को बचपन से ही परिश्रम का गौरव सिखाना चाहिए। बालकों की पढ़ाई ऐसी होनी चाहिए जिसमें वे परिश्रमी का सम्मान और परिश्रम पर गर्व करें। श्रम की गरिमा पर प्रकाश डालते हुए गांधीजी कहते हैं – "बच्चों को शुरू से ही श्रम की गरिमा का पाठ पढ़ाया जाना चाहिए। हमारे बच्चों की शिक्षा ऐसी नहीं होनी चाहिए कि वे श्रम को हेय समझने लगें। कोई कारण नहीं है कि किसान का बेटा, स्कूल जाने के बाद, खेतिहर श्रमिक के रूप में काम न करना चाहें, जैसा कि आजकल देखने में आ रहा है।"[83] यह सच है कि श्रम ही सच्ची शिक्षा है। अक्षर ज्ञान या पुस्तकीय शिक्षा हाथ की शिक्षा के बाद आनी चाहिए। हाथ से काम करने की कला या हस्त कौशल ही मनुष्य को पशु से अलग करता है। यह महज एक अंधविश्वास है कि अक्षर ज्ञान के बगैर मनुष्य का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। यह सच है कि अक्षर ज्ञान से जीवन की श्रीवृद्धि होती है, लेकिन यह सरासर गलत है कि उसके अभाव में मनुष्य का नैतिक, शारीरिक और आर्थिक विकास नहीं होता।

'नई तालीम' नयी इस मायने में है कि यह विदेशों से आयातित अथवा विदेशियों द्वारा आरोपित नहीं है। यह ग्राम प्रधान है और भारत के पर्यावरण के अनुकूल है।यह शरीर, बुद्धि और आत्मा से मिलकर बने मनुष्य के बीच संतुलन स्थापित करने वाली है। यह हस्तशिल्पों के माध्यम से दी जाती है और वही आधारभूत शिल्प इसका माध्यम बनता है जो सार्वभौमिकता की कसौटी पर खरा उतरता है। नई तालीम शिल्प, कला, स्वास्थ्य और शिक्षा का सुन्दर समन्वय है जो जन्म से लेकर मृत्यु के क्षण तक मनुष्य की सम्पूर्ण शिक्षा को अपने में समाहित करती है। यह तालीम दुनिया की दूसरी तमाम शिक्षा पद्धतियों से जल्दी फल देने वाली और सस्ती है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह पूर्णतया आत्मनिर्भर है। इसे चलाने के लिए करोड़ों रूपये खर्च करने की आवश्यकता नहीं है। 'हरिजन' पत्रिका में महात्मा गांधी ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है – "मेरी नई तालीम धन पर निर्भर नहीं है। इसे चलाने का खर्च स्वयं शिक्षा प्रक्रिया से ही निकल आना चाहिए। इसकी जो भी आलोचना हो, मैं यह जानता हूँ कि शिक्षा वही है जो आत्मनिर्भर

हो।"[84] हाथ का काम इस शिक्षा पद्धति का केन्द्र-बिन्दु है। हाथ के काम का यह अर्थ नहीं है कि विद्यार्थी स्कूल के संग्रहालय में रखने लायक वस्तुएँ बनायें जिनका कोई मूल्य नहीं है। वे ऐसी वस्तुओं का निर्माण करेंगे जिन्हें आसानी से बाजार में बेचा जा सकता है। इस प्रकार यह नई तालीम शुरू से ही जीवन को समृद्ध बनाकर राष्ट्र को रोजगार ढूँढ़ने के झंझट से मुक्ति दिलाती है।

महात्मा गांधी भारत में निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के पक्षधर थे। उनकी दृष्टि में इस लक्ष्य को पूरा करने का एक ही रास्ता है कि हम किसी उपयोगी उद्योग द्वारा बच्चों के शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के विकास को सिद्ध करें। अगर ऐसा होता है तो गाँवों के लगातार हो रहे नाश की प्रक्रिया रुकेगी और ऐसी न्यायपूर्ण समाज व्यवस्था की स्थापना होगी जिसमें आर्थिक असमानता की गुंजाइश नहीं होगी। ओटाई और कताई आदि गाँवों में चलने योग्य हस्त शिल्पों के द्वारा प्राथमिक शिक्षण की उनकी योजना के दूरगामी परिणाम होंगे। इन परिणामों के सम्बन्ध में गांधीजी लिखते हैं – "नई तालीम शहरों और गाँवों में स्वस्थ और नैतिक सम्बन्धों की स्थापना के लिए सुदृढ़ आधार पेश करेगी और इससे मौजूदा सामाजिक आरक्षितता और वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों की मौजूदा कटुता की बुराइयाँ बड़ी हद तक दूर होंगी।"[85] अतः नई तालीम एक ओर देश के सभी लोगों को रोजगार प्रदान कर बेरोजगारी को दूर करेगी तो दूसरी ओर अमीर-गरीब के भेद को खत्म कर एक स्वस्थ समाज की स्थापना करेगी। यह सब बिना किसी वर्ग युद्ध और भारी पूँजी के व्यय के बिना नई तालीम के बल पर होगा।

निष्कर्षतः महात्मा गांधी ने नये संसार की रचना के लिए जिस 'नई तालीम' की बात कही है उसमें पुस्तकीय ज्ञान होना अनिवार्य नहीं है। पुस्तकें संभवतः उसकी सहायक की भूमिका निभा सकती है। श्रम की गरिमा का पाठ पढ़ाने वाली यह शिक्षा जीवन की पुस्तक से ग्रहण की जाती है जिस पर कोई लागत नहीं आती और जिसे दुनिया की कोई ताकत नहीं छीन सकती। इतना ही नहीं हस्तशिल्प पर आधारित यह नई तालीम शिल्प, कला, स्वास्थ्य और शिक्षा का सुन्दर समन्वय है। सामान्य शिक्षा पद्धति जहाँ केवल बुद्धि का विकास करती है वहीं नई तालीम बुद्धि, शरीर और आत्मा तीनों का विकास करती है।

(ख) बुनियादी शिक्षा :

महात्मा गांधी शिक्षा की प्रचलित पद्धति से पूर्णतया असंतुष्ट थे। उन्हें इसमें अनेक कमियाँ दिखाई पड़ी जिनमें सर्वप्रमुख यह है कि इसका जीवन की परिस्थितियों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। विभिन्न विषयों में एकसूत्रता का अभाव है। यह बालक को अपने देश की संस्कृति से अलग रखती है। इस शिक्षा प्रणाली से निकला हुआ शिक्षित युवक शरीर से तो भारतीय होता है परन्तु हृदय और मस्तिष्क से विदेशी हो जाता है। प्रचलित शिक्षा

पद्धति में व्याप्त इन्हीं कमियों को दूर करने तथा शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन करने के लिए महात्मा गांधी ने बुनियादी शिक्षा प्रणाली को देश के समक्ष प्रस्तुत किया। यह शिक्षा प्रणाली कोरी कल्पना पर आधारित न होकर सत्य, अहिंसा, नैतिकता और मानव प्रतिष्ठा के सिद्धान्तों पर आधारित है। इसमें समस्त शिक्षा किसी न किसी उद्योग या हस्तकला को बुनियाद बनाकर दी जाती है। कताई, बुनाई, बढ़ईगिरी, लोहे का काम, चमड़े का काम, खेती, बागवानी आदि अनेक ऐसे धंधे हैं; जिनके आधार पर भाषा, भूगोल, गणित आदि सभी विषयों का सच्चा और उपयोगी ज्ञान हो सकता है। इसलिए इस शिक्षण का नाम 'बुनियादी शिक्षा' रखा गया। 22-23 अक्टूबर को 'वर्धा' में आयोजित अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा परिषद के सम्मेलन में महात्मा गांधी ने सभापति के रूप में बुनियादी शिक्षा सम्बन्धी विचार प्रकट किए। इस विषय पर पर्याप्त विचार विमर्श के पश्चात परिषद ने बुनियादी शिक्षा सम्बन्धी जो प्रस्ताव स्वीकार किए वे इस प्रकार हैं –

1. राष्ट्रीय स्तर पर सात (7 से 14 वर्ष) वर्ष तक बालकों को निःशुल्क, अनिवार्य शिक्षा दी जाए।
2. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।
3. बच्चे की सम्पूर्ण शिक्षा का केन्द्र शिल्प – 'हाथ का काम हो'।
4. शिक्षा की यह योजना धीरे-धीरे अध्यापक के पारिश्रमिक को पूरा करेगी।
5. यह शिक्षा पद्धति किसी भी प्रकार के विकास के लिए आवश्यक 'श्रम' के महत्त्व को स्वीकार करती है और बच्चों में श्रम करने की आदत डालती है।
6. यह पद्धति भारतीय संस्कृति के मूल दर्शन - सत्य व अहिंसा पर आधारित है।
7. यह शिक्षण पद्धति सामाजिक उत्थान के लिए आवश्यक सामाजिक भावना का विकास करती है।[86]

यह शिक्षा प्रणाली 7 से 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने पर बल देती है। गांधीजी के विचारों से देश के निर्धन बच्चों को शिक्षा से वंचित रखना उनके अधिकारों का हनन और मानवीय कसौटी पर हिंसा है। बुनियादी शिक्षा की विशेषता यह है कि यह शिक्षा किसी उद्योग के द्वारा होती है लेकिन यह उद्योग की शिक्षा न होकर उद्योग के द्वारा शिक्षा होती है। "बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य दस्तकारी के माध्यम से बालकों का शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक विकास करना है।"[87] इससे बच्चे श्रम के महत्त्व को समझने लगते हैं। जिस देश में लाखों आदमी भूखों मरते हैं, वहाँ बुद्धिपूर्वक किया जाने वाला श्रम ही सच्ची प्राथमिक शिक्षा है। इस शिक्षा प्रणाली में मातृभाषा को विशेष स्थान दिया गया है और उसी को शिक्षण का माध्यम स्वीकार किया गया है। यह शिक्षा जहाँ एक

ओर बेरोजगारी की समस्या को समाप्त कर समाज की उन्नति में सहयोग करती है वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक विचारधारा की पोषक होने के कारण भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में बच्चों को शिक्षा देती है। इसका पाठ्यक्रम रूढ़ न होकर लचीला होता है तथा इसमें बच्चों की रुचि एवं योग्यता का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसलिए इसमें शिक्षक तथा विद्यार्थी दोनों को पर्याप्त स्वतंत्रता रहती है।

बुनियादी शिक्षा की यह योजना बच्चों को ध्यान में रखकर तैयार की गई थी ताकि उन्हें सुधार-सँवार कर आदर्श बनाया जा सके। 'मेरे सपनों का भारत' में महात्मा गांधी ने इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है – "बुनियादी तालीम हिन्दुतान के तमाम बच्चों को, फिर वे गाँवों के रहने वाले हो या शहरों के, हिन्दुस्तान के सभी श्रेष्ठ और स्थायी तत्त्वों के साथ जोड़ देती है। यह तालीम बालक के मन और शरीर दोनों का विकास करती है; बालक को अपने वतन के साथ जोड़े रखती है; उसे अपने और देश के भविष्य का गौरवपूर्ण चित्र दिखाती है; और उस चित्र में देखे हुए भविष्य के हिन्दुस्तान का निर्माण करने में बालक या बालिकाएँ अपने स्कूल जाने के दिन से ही हाथ बंटाने लगें, इसका इन्तजाम करती है।"[88] इस प्रकार यह शिक्षा नागरिकता के गुण विकसित करने वाली सर्वोत्तम शिक्षा है जो मनुष्य को अपने जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करने की प्रेरणा देते हुए उन्हें स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर बनाती है।

निष्कर्षतः बच्चों को ध्यान में रखकर तैयार की गई महात्मा गांधी की बुनियादी शिक्षा की कल्पना जितनी क्रान्तिकारी है, उसका क्षेत्र भी उतना ही व्यापक है। मातृभाषा को विशेष स्थान देने वाली यह शिक्षा एक ओर रोजगार प्रदान करती है, वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक विचारधारा की पोषक होने के कारण बच्चों को भारतीय संस्कृति का ज्ञान भी कराती है। नागरिकता का गुण विकसित करने वाली यह शिक्षा बालक के मन और शरीर का विकास करके उसे अपने वतन के साथ जोड़ती है। इस शिक्षा का लक्ष्य एक ऐसी अहिंसक शोषणमुक्त समाज व्यवस्था का निर्माण करना है, जिसमें स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृभाव के आदर्श पूर्णतः प्राप्त किए जा सकें।

(ग) स्त्री-शिक्षा :

महात्मा गांधी समाज में नारी के लिए पुरु ष के समान अधिकारों के समर्थक थे। वे नहीं चाहते थे कि पुरुष स्त्री को मानव समाज के स्वाभाविक अधिकारों से वंचित कर दे। नारी अपने इन स्वाभाविक अधिकारों का उपभोग करे इसके लिए उसमें आत्मज्ञान का होना आवश्यक है और यह आत्मज्ञान शिक्षा के अभाव में नहीं मिल सकता। इसलिए उन्होंने स्वीकार किया कि स्त्रियों के लिए भी शिक्षा उतनी ही आवश्यक है जितनी कि

पुरुषों के लिए। परन्तु स्त्री शिक्षा का स्वरूप कैसा हो इसका निर्धारण उन्होंने नहीं किया। इस विषय में वे कहते हैं – "जहाँ तक स्त्री शिक्षा का सम्बन्ध है, मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि यह पुरुषों की शिक्षा से भिन्न होनी चाहिए या नहीं और इसकी शुरूआत कब होनी चाहिए। लेकिन मेरी पक्की राय है कि स्त्रियों को भी पुरुषों के समकक्ष शिक्षा-सुविधाएँ मिलनी चाहिए और जहाँ आवश्यक हो वहाँ उन्हें विशेष सुविधाएँ भी दी जानी चाहिए।"[89] अर्थात् जिस स्त्री की पढ़ना-लिखना सीखने की इच्छा हो, उसे इसकी पूरी सुविधा मिलनी चाहिए और इच्छा न भी हो तो अक्षर ज्ञान तो होना ही चाहिए।

समाज में स्त्री-पुरुष की जोड़ी अनोखी है। ये समान दरजे के होते हुए भी एक नहीं हैं। दोनों एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं और एक दूसरे की कमी को पूरा करने वाले हैं। ऐसी स्थिति में कोई एक अपनी जगह से गिरता है तो दोनों का नाश होता है। दोनों को प्रकृति ने अलग-अलग विशेषताएँ प्रदान की है। दोनों के विशेष प्राकृतिक गुणों को ध्यान में रखकर महात्मा गांधी ने स्त्री-शिक्षा की योजना बनाने वाले को सलाह देते हुए लिखा है – "दम्पति के बाहरी कामों में पुरुष सर्वोपरि है। बाहरी कामों का विशेष ज्ञान उसके लिए जरूरी है। भितरी कामों में स्त्री की प्रधानता है। इसलिए गृह-व्यवस्था, बच्चों की देखभाल, उनकी शिक्षा वगैरह के बारे में स्त्री को विशेष ज्ञान होना चाहिए। यहाँ किसी को कोई भी ज्ञान प्राप्त करने से रोकने की कल्पना नहीं है । किन्तु शिक्षा का क्रम इन विचारों को ध्यान में रखकर न बनाया गया हो, तो स्त्री-पुरुष दोनों को अपने-अपने क्षेत्र में पूर्णता प्राप्त करने का मौका नहीं मिलता।"[90] गांधीजी भारतीय संस्कृति के अनुसार स्त्री को पुरुष की सहयोगिनी मानते हैं जो घर के भीतर के कामों को करती हुई अपने आदर्शों को निभाती है। इसलिए उन्होंने स्त्रियों के लिए विशेष शिक्षा व्यवस्था पर जोर दिया है। जिसमें वह गृह संचालन, बच्चों की देखभाल, उनकी शिक्षा वगैरह के विषय में विशेष ज्ञान अर्जित कर सके। क्योंकि इन क्षेत्रों में स्त्रियाँ अपना कार्य जितनी क्षमता से कर सकती हैं पुरुष नहीं। इसलिए स्त्रियों को अपनी ऊर्जा और क्षमता का प्रयोग इस क्षेत्र में करना चाहिए। अपने प्राकृतिक गुण और स्वभाव के चलते उन्हें नौकरी ढूँढ़ने या व्यापार के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अगर कोई स्त्री विद्यालय में जाकर अंग्रेजी की शिक्षा ग्रहण करना चाहे तो उसको बाधित किया जाए। जिन्हें पढ़ना हो, अंग्रेजी सीखनी हो तो वे स्त्रियाँ पुरुषों की खोली हुई पाठशालाओं में अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त कर सकती हैं। गांधीजी को यह कतई मंजूर नहीं था कि पुरुषों को अंग्रेजी का खजाना दिया जाय और स्त्रियों को न दिया जाये।

इस प्रकार महात्मा गांधी स्त्रियों की समुचित शिक्षा के समर्थक थे पर उनका मानना था कि स्त्री पुरुष की नकल या उससे प्रतिस्पर्धा करके संसार के विकास में अपना योगदान

नहीं दे सकती। पुरुष की नकल या प्रतिस्पर्धा के बल पर वह उन ऊँचाइयों का स्पर्श नहीं कर सकती जहां तक पहुँचने में वह सक्षम है। इसलिए उसे पुरुष की पूरक बनना चाहिए।

निष्कर्षतः महात्मा गांधी स्त्रियों की समुचित शिक्षा के समर्थक थे। उनकी दृष्टि में स्त्री-पुरुष दोनों को शिक्षा की समान आवश्यकता है। यद्यपि स्त्री-शिक्षा का उन्होंने कोई स्वरूप निर्धारित नहीं किया, पर वे स्त्री के प्राकृतिक गुणों को ध्यान में रखकर स्त्री-शिक्षा के लिए विशेष योजना बनाने के हिमायती थे। ताकि इस विशेष शिक्षा के द्वारा वह गृह संचालन, बच्चों की देखभाल और उनकी शिक्षा के विषय में विशेष ज्ञान अर्जित कर सके।

महात्मा गांधी प्रथम ऐसे शिक्षा शास्त्री थे, जिन्होंने भारतीय जीवन को ध्यान में रखते हुए वातावरण के अनुसार शिक्षा-योजना प्रस्तुत की। उनका शिक्षा दर्शन प्रकृतिवादी, आदर्शवादी तथा प्रयोजनवादी है। प्रकृतिवादी इसलिए कि वह बालक को उसकी प्रकृति के अनुसार विकसित करने पर जोर देता है, आदर्शवादी इसलिए कि यह जीवन के अंतिम लक्ष्य सत्य को प्राप्त करने की प्रेरणा देता है तथा प्रयोजनवादी इसलिए कि बालक को उसकी रुचि के अनुसार क्रिया करके सीखने पर बल देता है। इस शिक्षा दर्शन में प्रकृतिवादी, आदर्शवादी और प्रयोजनवादी प्रवृत्तियाँ अलग और स्वतंत्र नहीं वरन् वे सब मिलजुलकर एक हो गई हैं, जिससे ऐसे शिक्षा-दर्शन का जन्म हुआ है जो सर्वोच्च आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करने में सक्षम है।

(v) मानव-मूल्य और विश्व-दृष्टि :

(क) मानव-मूल्य :

मानव जीवन के सन्दर्भ में मानव-मूल्य वे मानदण्ड हैं जो जीवन को जीने योग्य बनाते हैं। ये मानवीय अनुभवों, विचारों एवं चिन्तन को मर्यादित करते हैं। तामसिक प्रवृत्तियों से सात्विक प्रवृत्तियों की ओर कदम बढ़ाते हुए जब मानव राक्षसत्व से देवत्व की ओर बढ़े और इस प्रक्रिया के दौरान वह जिन मूल्यों का प्रयोग करे वही मानव-मूल्य कहलाते हैं। डॉ. जगदीश गुप्त के अनुसार "मानव मूल्यों का तात्पर्य उन मूल्यों से है जो मानव के आन्तरिक सहज स्वरूप के सबसे निकट प्रतीत होते हैं तथा उसके संवेदनात्मक व्यक्तित्व से सबसे अधिक सीधे और गहन रूप से सम्बद्ध हैं। उनकी विशेषता इसी में है कि मानवीय संवेदनाओं की उनमें मुक्त और उदार स्वीकृति है। जीवन में उन मूल्यों की प्रतिष्ठा का अर्थ मानवता एवं मानवीयता की प्रतिष्ठा है। उसके बिना मानव अस्तित्व निरर्थक है"[91] इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से देखा जाए तो मूल्य समाज के विश्वास, आदर्श, सिद्धांत, नैतिक-नियम और व्यवहार के वे मानदण्ड हैं जो मनुष्य के व्यवहार को निर्देशित एवं नियंत्रित करते हैं।

महात्मा गांधी का सम्पूर्ण जीवन दर्शन मानवीय मूल्यों पर आधारित है। सत्य, अहिंसा. प्रेम, परोपकार, सेवा, प्रेम, विनम्रता, करुणा, सह-अस्तित्व, सदाव्रत, सहिष्णुता, क्षमा, मानवता, अनुशासन आदि से सम्बन्धित उनके विचारों में मानव-मूल्यों के प्रति उनकी आस्था स्पष्ट झलकती है।

1.सत्य :

'सत्य' शब्द 'सत्' से निष्पन्न है। जिसका अर्थ अस्ति होने का भाव है। सत्य मानवीय मूल्यों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मूल्य है। जीवन में सत्य के अनुसार आचरण करने से जीवन शुद्ध होता है, भूलें सुधरती हैं, मनुष्य की मानसिक एवं वैचारिक शक्ति सुदृढ़ होती है। इसलिए संसार के प्रत्येक मनुष्य को इसे अपनाना चाहिए। महात्मा गांधी के लिए तो सत्य सर्वोच्च मूल्य है, जिसमें अधिकांश मानवीय मूल्य समाहित हो जाते हैं। उनके अनुसार - "सत्य एक विशाल वृक्ष की तरह है। आप जितना उसका पोषण करेंगे, उतने ही ज्यादा यह फल देगा। सत्य की खान को जितना गहरा खोदेंगे, सेवा के नये-से-नये मार्ग के रूप में यह उतने ही अधिक हीरे जवाहरात देगा।"[92] सेवा, प्रेम, परोपकार, विनम्रता आदि मानवीय मूल्य वे हीरे जवाहरात हैं जिन्हें सत्य की राह पर चले बगैर प्राप्त नहीं किया जा सकता है। सत्य रूपी मानवीय मूल्य को अपने हृदय में स्थान देने मात्र से मनुष्य घृणा, द्वेष, इर्ष्या जैसे दुर्गुणों से स्वतः मुक्त हो जाता है।

2.अहिंसा :

अहिंसा सत्य के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानव मूल्य है। अहिंसा मानव जाति का नियम है। यह पशुबल से कहीं अधिक महान है। अहिंसा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए महात्मा गांधी ने लिखा है – "अहिंसा मनुष्य के स्वाभिमान और आत्मसम्मान की पूरी रक्षा करती है, लेकिन जमीन-जायदाद या चल सम्पत्ति के स्वामित्व को सदा संरक्षण प्रदान नहीं करती। अहिंसा की प्रकृति ही ऐसी है कि वह गलत तरीके से कमाए गए लाभों और अनैतिक कृत्यों की रक्षा करने में कोई मदद नहीं करती।"[93] अहिंसा के मार्ग का पहला कदम यह है कि हम अपने दैनिक जीवन में परस्पर सच्चाई, विनम्रता, सहिष्णुता और प्रेममय दयालुता का व्यवहार करें। अहिंसा का अनुगमन उस समय अनिवार्य है जब हमारे सामने कोई हिंसक कृत्य को अंजाम दे। महात्मा गांधी आजीवन अहिंसा की राह पर चलते रहे। अहिंसा के बल पर उन्होंने अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया।

अहिंसा उच्चतम कोटि का सक्रिय बल है जिसका अत्यल्प अंश भी व्यक्ति के अन्दर सक्रिय हो जाए तो अद्भुत परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। अहिंसा का उपदेश सभी धर्मों में मौजूद है। भारत में तो अहिंसा के आचरण को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया गया है। पर

आधुनिकता की अंधी दौड़ में स्वार्थ में अंधे होकर आज हम इससे लगातार दूर होते जा रहे हैं। इसलिए महात्मा गांधी चिंतित हैं। वे लोगों से अहिंसा के अनुरूप आचरण करने का आग्रह करते हुए कहते हैं – "आज अहिंसा का आचरण लुप्त हो गया है। यह जरूरी है कि हम क्रोध का जवाब प्रेम से और हिंसा का जवाब अहिंसा से देने के शाश्वत नियम को फिर से जीवित करें"[94] मानवीय सम्बन्धों में सत्य की प्राप्ति का एकमात्र साधन अहिंसा का व्यवहार है। दृढ़ता के साथ अहिंसा का आचरण ही मनुष्य को सत्य तक ले जाता है। अहिंसा सत्य को प्राप्त करने का एकमात्र साधन है इसलिए दैनिक जीवन में हमारा उससे सरोकार ज्यादा है। यही कारण है कि महात्मा गांधी बार-बार लोगों से अहिंसा रूपी मानव मूल्य को अपनाने का आग्रह करते हैं

3.प्रेम :

प्रेम मानव जीवन का सर्वोपरि और अनुपम धर्म है। हर प्रकार की हिंसा का त्याग कर प्रेम धर्म को स्वीकार करना ही शांति और सत्य को पाने का एकमात्र रास्ता है। संसार प्रेम के नियम से ही संचालित होता है। संसार का प्रत्येक धर्म यह स्वीकार करता है कि सारा विश्व प्रेम की ग्रंथि से ही बंधा हुआ है। अगर प्रेम का बंधन न हो तो पृथ्वी का एक-एक परमाणु और पानी की एक-एक बूँद अलग हो जाए। इसी प्रकार यदि मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम न होगा तो वह मृतप्रायः हो जाएगा। महात्मा गांधी के अनुसार, "प्रेम का बल वही है जो आत्मा अथवा सत्य का बल है। हमें पग-पग पर उसकी कार्यशीलता का प्रमाण मिलता है। वह बल न हो तो विश्व का लोप हो जाएगा।"[95] दुनिया में आज इतने लोग जिन्दा हैं इससे सिद्ध होता है कि संसार की नींव शस्त्र बल पर नहीं बल्कि प्रेम भावना पर टिकी है। जहाँ प्रेम है वहीं ईश्वर है। महात्मा गांधी जिस प्रेम की बात करते हैं वह सार्वभौम है, उसमें ऊँच-नीच और धार्मिक भेद-भाव के लिए कोई स्थान नहीं है।

4.परोपकार :

परहित या परोपकार मानव का सर्वोपरि गुण है। दूसरों के कल्याण के लिये नि:स्वार्थ भाव से किया गया कार्य परोपकार की कोटि में आता है। विश्व की अधिकांश संस्कृतियों में परोपकार को मानव-मूल्य के रूप में मान्यता प्राप्त है। जिस व्यक्ति के हृदय में संसार के दुःखी और पीड़ित लोगों को देख कर संवेदना का भाव उत्पन्न न हो तो वह मानव योनी में जन्म लेने के बावजूद भी मनुष्य नहीं है। अर्थात् परोपकार का अर्थ है दूसरों की भलाई करना। महात्मा गांधी इस मानवीय गुण का समर्थन करते हुए कहते हैं – "यदि मैं करोड़ों पीड़ित और मूक भारतीयों के कष्ट का अनुभव न करूँ तो अपने आपको इंसान नहीं मानूँगा।"[96] मन, वचन और कर्म से बिना किसी स्वार्थ के दूसरों पर उपकार करने वाले

व्यक्ति संत की श्रेणी में आते हैं। परोपकार ऐसा कृत्य है जिसके द्वारा शत्रु भी मित्र बन जाता है। यदि शत्रु पर विपत्ति के समय उपकार किया जाए तो वह भी उपकृत होकर सच्चा मित्र बन जाता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को अपनी क्षमता और सामर्थ्य के अनुसार लोगों के दुःख को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। जिनके हृदय में परोपकार की भावना जागृत रहती है, उन्हें पग-पग पर संपत्ति और यश की प्राप्ति होती है।

5.सेवा :

बिना किसी कामना के दूसरों के हित के लिए किया गया कार्य सेवा की कोटि में आता है। महात्मा गांधी के हृदय में सेवा की यह भावना कूट-कूट कर भरी थी। गरीबों की सेवा उनकी हार्दिक कामना थी। उनकी दृष्टि में देश और उनके द्वारा मानवता की अथक सेवा मोक्ष का मार्ग है। "सेवा मेरे लिए अपनी आत्मा को इस देह बंधन से मुक्त करने की साधना का ही एक अंग है। इस अर्थ में सेवा को मेरा शुद्ध स्वार्थ भी माना जा सकता है। मुझे संसार के नश्वर साम्राज्य की कोई कामना नहीं है। मैं तो स्वर्ग के साम्राज्य अर्थात् मोक्ष के लिए प्रयासरत हूँ।"[97] गांधीजी के लिए सेवा ईश्वर को प्राप्त करने का माध्यम है। उनका मानना था कि ईश्वर का वास अति-साधारण निचले प्राणियों या दलित वर्गों के बीच अधिक है। इसलिए इनके स्तर पर आये बगैर ईश्वर को नहीं पाया जा सकता। यही कारण है कि उन्होंने अपना पूरा ध्यान असहाय, साधनहीन लोगों की सेवा में लगा दिया। राजनीति में उनके प्रवेश का कारण भी इनकी सेवा ही थी। वे आजीवन एक विनम्र सेवक बने रहना चाहते थे। उनकी सेवा भावना गैरमजहबी और नेकनियती की भावना से प्रेरित थी। जिसके बदले उन्होंने प्रतिष्ठा की नहीं बल्कि प्रेम की कामना की थी। उन्होंने कहा है – "मैं जिस प्रकार हिन्दुओं का सेवक हूँ उसी प्रकार मुसलमानों, ईसाइयों, पारसियों और यहुदियों का भी हूँ। और सेवक को तो प्यार चाहिए, प्रतिष्ठा नहीं। जब तक मैं निष्ठावान सेवक बना रहूँगा, प्यार मुझे अवश्य मिलेगा।"[98] इस प्रकार महात्मा गांधी ने अपने को भारत और मानवता का तुच्छ सेवक मानते हुए मानवता की सेवा करते हुए मरने की कामना प्रकट की थी।

6.विनम्रता :

विनम्रता का अर्थ है अहंकार का आत्यान्तिक क्षय। विनम्र व्यवहार का अर्थ झूठी खुशामद या अपने धर्म के प्रति अपने भावों को छिपाना नहीं बल्कि अपने धर्म पर आरूढ़ रहते हुए दूसरों के प्रति आदर भाव बनाये रखना है। विनम्रता अहंकार का नाश कर मानव के व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती है। यह मनुष्य के अवगुणों को दूर कर उसमें सद्गुणों को विकसित करती है। महात्मा गांधी के अनुसार, "विनम्रता अहंकार का नाश

करती है। मेरे अन्दर इतनी विनम्रता जरूर है कि मैं अपनी गलतियों को स्वीकार कर सकूँ।"[99] गांधीजी स्वभाव से इतने विनम्र थे कि आवश्यकता पड़ने पर बच्चों और अनुभवहीनों से मदद लेने में भी नहीं हिचकिचायें। मनुष्य की उच्चता नम्रता में ही निहित है। यदि उसमें नम्र बनने की शक्ति न हो तो उसे ऊँचा उठा हुआ नहीं कहा जा सकता।

7.करुणा :

करुणा को धर्म का मूल आधार कहा गया है। करुणा किसी अन्य की पीड़ा को महसूस कर उसकी सहायता की इच्छा से उत्पन्न भावना है। अहिंसा और करुणा दोनों सहोदर बहनें हैं। अहिंसा धर्म का मूल आधार है और करुणा उसकी अभिव्यक्ति। महात्मा गांधी करुणा के प्रतिरूप थे। उनके हृदय की करुणा और संवेदना केवल मनुष्य तक सीमित न रहकर सृष्टि के समस्त जीवों के प्रति है। उनकी दृष्टि में समस्त जीवों के प्रति करुणा और संवेदना ही सही अर्थों में समाज और मानव जीवन के लिए कल्याणकारी है। करुणा एक भावात्मक लगाव है, जो मनुष्य के अनुभव को सार्वभौमिकता से जोड़ती है। जब विज्ञान के साथ करुणा का विकास होता है, तब सर्वोदय होता है। इस प्रकार करुणा विश्व में सुख, शांति, सद्भावना एवं सौहार्द का राजमार्ग है। महात्मा गांधी ने आजीवन करुणा के नियम का पालन किया।

8.सह अस्तित्व :

मनुष्य की सृष्टि ईश्वर ने की है। उन्होंने संसार के सारे मनुष्य को एक जैसा बनाया। रंग-रूप में भिन्न होने के बावजूद मूल रूप से संसार के सभी मनुष्यों के गुण-दोष एक समान है। अर्थात् न कोई छोटा है न कोई बड़ा। इसलिए संसार के सभी मनुष्यों को एक दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार करके अपने हृदय में एक दूसरे के प्रति परस्पर सहयोग की भावना रखनी चाहिए। परस्पर सहयोग की इस भावना को सह-अस्तित्व कहा जाता है। सह-अस्तित्व एक महत्त्वपूर्ण मानवीय मूल्य है। मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। सह-अस्तित्व की भावना के अभाव में समाज का समान विकास संभव नहीं है। आर्थिक और सामाजिक भेदभाव इसी के अभाव की उपज है। महात्मा गांधी ने अपने विचार दर्शन में सह-अस्तित्व और परस्पर सहयोग के आदर्श को सामने रखा। उनका मानना था कि संसार के किसी भी व्यक्ति को किसी के विकास में बाधक बनने का अधिकार नहीं है। संसार में सुख-शांति की स्थापना तभी हो सकती है, जब हम भेदभाव को त्यागकर एक दूसरे के सहयोग के लिए आगे आयें। संसार के तमाम नर-नारी समान है। सबका अस्तित्व समान हैं। अहिंसा और प्रेम सह-अस्तित्व के आधार मूल्य हैं।

निष्कर्षतः मानव मूल्य मनुष्य के व्यवहार को निर्देशित एवं नियंत्रित करने वाले मानदण्ड हैं। जीवन में मूल्यों की प्रतिष्ठा का अर्थ मानवता एवं मानवीयता की प्रतिष्ठा है।

उनके बिना मानव अस्तित्व निरर्थक है। माहात्मा गांधी इन मानव मूल्यों के प्रतीक थे। उनका सम्पूर्ण जीवनदर्शन मानवीय मूल्यों पर आधारित है। ऐसा कोई मानव मूल्य नहीं है जिसका स्पर्श गांधी विचारधारा ने न किया हो। महात्मा गांधी संसार के सभी लोगों को आदर्श मानव के रूप में देखना चाहते थे। पर यह तभी संभव था जब मनुष्य अपने अन्दर से घृणा, क्रोध, क्रूरता तथा उपेक्षा के भावों को पूरी तरह से मिटा कर अपने अन्दर मानवीय मूल्यों का विकास करे। सत्य, अहिंसा, प्रेम, परोपकार, सेवा, विनम्रता, करुणा, सह-अस्तित्व आदि वे प्रमुख मानवीय मूल्य हैं, जो गांधी के स्वभाव के अंग थे। सत्य और अहिंसा उनकी दृष्टि में सर्वोच्च मूल्य हैं जिनकी सक्रियता मनुष्य को घृणा, ईर्ष्या, द्वेष जैसे दुर्गुणों से मुक्त करती है। परोपकार ऐसा कृत्य है, जिससे शत्रु भी मित्र बन जाता है। परोपकार की भावना पग-पग पर यश प्रदान करती है। प्रेम मानव जीवन की सहजात वृत्ति है जो मानव को मानव से जोड़ती है। विनम्रता अहंकार का नाश कर व्यक्तित्व का विकास करती है तथा सह-अस्तित्व और करुणा सुख, शांति और सद्भावना का राजमार्ग है। अपने जीवन मे इन मानव-मूल्यों का अनुपालन करके कोई भी व्यक्ति समस्त प्राणी जगत के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है। दृढ़ता के साथ इन मूल्यों का आचरण मनुष्य को देवत्व तक पहुँचाता है तो इसके अभाव में मानव योनी में जन्म लेकर भी वह मानव नहीं बन पाता है।

(घ) विश्व-दृष्टि :

महात्मा गांधी सम्पूर्ण मानवता में भ्रातृभाव देखना चाहते थे। समूची मानवता के लिए समान व्यवहार सुनिश्चित करना उनके जीवन का प्रमुख उद्देश्य था। उन्हें प्रेम के सार्वभौम नियम में विश्वास था जो किसी तरह के भेदभाव के स्वीकार नहीं करता। उनका कहना था – "सब लोग एक समान आयु, एक बराबर कद, एक ही चमड़ी और एक जैसी बुद्धि वाले नहीं है, पर ये असमानताएँ अस्थायी और सतही हैं; इस मिट्टी की पपड़ी के नीचे जो आत्मा छिपी है वह सभी प्रदेशों के तमाम स्त्री-पुरुषों में बिल्कुल एक ही है.....हमें अपने चारों ओर जो विविधता दिखाई देती है, उसमें एक सच्ची और तात्त्विक एकता है।"[100] इस प्रकार बाह्य स्वरूप एक होने पर भी उनमें प्राण डालने वाली आत्मा एक ही है तो ऊँच-नीच के भेद की गंजाइश ही नहीं रह जाती। विश्व के सभी धर्मों का चरम लक्ष्य भी इसी मूल एकत्व को प्राप्त करना है। गांधीजी ने विश्व के सभी लोगों से अपने हृदयों को समुद्र के समान विशाल बनाने का आग्रह करते हुए कहा है – "हमें अपने प्रेम की परिधि का विस्तार तब तक करते जाना चाहिए जब तक उसमें पूरा गाँव न समा जाए; इसी प्रकार गाँव को शहर, शहर को प्रांत, प्रांत को देश और देश को समूची दुनिया को अपने प्रेम के

राज्य में समेट लेना चाहिए।"[101] अर्थात् मनुष्य को केवल अपनी जाति के लोगों या अपने ही देश के हित से संतुष्ट न होकर, समूची मानवता के हित और विकास के बारे में सोचना चाहिए। विश्व में मनुष्य-मनुष्य के बीच स्थायी शत्रुता को खत्म कर सर्वत्र सच्ची शांति और प्रेम का साम्राज्य तभी स्थापित हो सकता है जब मनुष्य एक प्रेम से दूसरे प्रेम और एक शांति से दूसरी शांति की ओर लगातार बढ़ता जाए।

महात्मा गांधी भारत को स्वतंत्र इसलिए कराना चाहते थे कि भारत के संसाधनों का उपयोग मानव जाति के लिए किया जा सके। उनके अनुसार "राष्ट्र प्रेम हमें सिखाता है कि व्यक्ति को परिवार के लिए प्राणोत्सर्ग कर देना चाहिए, परिवार को गाँव के लिए मिट जाना चाहिए, गाँव को जिले, जिले को प्रांत और प्रांत को देश के लिए अपनी बलि दे देनी चाहिए। उसी प्रकार देश के लिए स्वतंत्र होना इसलिए आवश्यक है कि यदि आवश्यकता हो तो विश्व के हित के लिए स्वयं को न्यौछावर कर सके।"[102] अतः स्वराज के माध्यम से गांधीजी सारी दुनिया की सेवा करना चाहते थे। उनके लिए राष्ट्रीयता और मानवता एक ही चीज है। इसलिए मनुष्य को सम्पूर्ण सृष्टि के कल्याण की कामना करनी चाहिए। जो व्यक्ति केवल अपने या अपने समुदाय के हित की बात सोचता है वह स्वार्थी है। महात्मा गांधी केवल मानव जाति के बीच ही भाईचारे के हिमायती नहीं थे, वे इससे भी दो कदम आगे बढ़कर पृथ्वी पर रेंगने वाले जीवों सहित समस्त प्राणीजगत के साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने लिखा है – "मैं पृथ्वी पर रेंगने वाले जीवों के साथ भी तादात्म्य स्थापित करना चाहता हूँ, क्योंकि हम सब एक ही ईश्वर की संतान हैं। इसलिए जीवन जीतने रूपों में है, सब मूलतः एक ही है।"[103] अर्थात् ईश्वर ने पृथ्वी पर जीवों से लेकर मानव तक सभी का सृजन किया है, अतः उस परमात्मा की सृष्टि की विविधता में भी मूलभूत एकता है।

अपनी इस विश्व-दृष्टि के चलते वे पूरे विश्व को आपस में जोड़ने के लिए पूरे संसार को आपसी प्रेम और भाईचारे का संदेश देते हुए युद्ध से दूर रहने की सलाह देते रहे। युद्ध की विभीषिका का प्रभाव कभी भी दो देशों की सीमाओं में आबद्ध होकर नहीं रह सकता। उसका दूरगामी प्रभाव धीरे-धीरे पृथ्वी के समस्त देशों को अपने आगोश में ले लेता है। यही कारण है कि गांधीजी भारत की सीमा से उठकर संसार के सभी देशों को अणु बम के प्रति सचेत करते हुए अहिंसा और शांति स्थापना का आजीवन प्रयास करते रहे। उनका मानना था – "ईश्वर ने विश्व की व्यवस्था इस तरह की है कि कोई व्यक्ति अपनी भलाई या बुराई को अपने तक सीमित नहीं रख सकता। सम्पूर्ण विश्व एक मानव शरीर की भाँति है जिसके विभिन्न अंग है। एक अंग में पीड़ा होने पर उसकी अनुभूति पूरे शरीर को होती है। एक अंग में सड़न पैदा होने पर अनिवार्यतः सम्पूर्ण शरीर में विष फैल जाता है।"[104] इसलिए अगर

हमें संसार में शांति की स्थापना करनी है तो इसके लिए हमें पूरे विश्व को एक मानव शरीर की भाँति देखना होगा और पूर्ण सजग रहकर उसके प्रत्येक अंग अर्थात् संसार के समस्त राष्ट्रों को निरस्त्रीकरण के पथ पर चलना पड़ेगा।

भारत की सेवा का प्रयास करते हुए गांधीजी समूची मानवता की सेवा कर रहे थे। उन्होंने यह समझ लिया था कि भारत की सेवा और मानवता की सेवा के बीच कोई विरोध नहीं है। उनका मानना था – "देश सेवा और विश्व सेवा का सिद्धान्त अच्छा है। इसे अंगीकार करने से ही विश्व की स्थिति में तनाव घटेगा और विभिन्न राष्ट्रों के बीच पारस्परिक ईर्ष्या समाप्त होगी।"[105] गांधीजी की राष्ट्रभक्ति सर्वसमावेशी है जिसका लक्ष्य सम्पूर्ण मानवता के बीच भाईचारे की स्थापना करना है। इसलिए वे मनुष्य में आत्मनिर्भरता के साथ-साथ परस्पर निर्भरता को भी आवश्यक मानते थे। समाज के साथ परस्पर सम्बन्ध रखे बिना कोई भी व्यक्ति विश्व के साथ एकात्मकता स्थापित नहीं कर सकता और अपने अहंकार का दमन नहीं कर सकता। इसलिए मनुष्य को सामूहिक जीवन की कला को सीखना चाहिए, जिसमें सहकारिता की परिधि निरन्तर विस्तृत होती जाती है और अंत में सारी मानव जाति को अपने में समाविष्ट कर लेती है।

निष्कर्षतः महात्मा गांधी केवल अपने हित के बारे में न सोचकर समूचे विश्व और समूची मानवता के हित और विकास के बारे में सोचते थे। उनकी दृष्टि में सारा संसार एक शरीर की भाँति है जिसके एक अंग की पीड़ा की अनुभूति पूरे शरीर को होती है। इसलिए मनुष्य को स्वार्थ के वशिभूत होकर केवल अपने या अपने समुदाय के हित की बात नहीं सोचकर सारी सृष्टि के कल्याण की कामना करनी चाहिए। अपनी इस विश्व-दृष्टि के चलते वे पूरे विश्व को प्रेम और भाईचारे का संदेश देते हुए युद्ध से दूर रहने की सलाह देते रहे। गांधीजी 'सम्पूर्ण विश्व मेरा परिवार है' इस महान उक्ति के समर्थक थे। यही कारण है कि महात्मा गांधी को मानव की नहीं प्राणीमात्र की अनिवार्य एकता में विश्वास है। वे सोचते थे कि यदि एक व्यक्ति को भी आध्यात्मिक लाभ मिलता है तो उससे सारी दुनिया लाभान्वित होती है और अगर एक व्यक्ति का पतन होता है, तो उस सीमा तक सारी दुनिया का पतन होता है। ऐसी है महात्मा गांधी की विश्व-दृष्टि जिसका विश्वव्यापी संदेश अपने हित को विश्व के हित से तथा विश्व के अहित को अपने अहित से जोड़कर देखती है। इसमें सारे संसार के कल्याण की कामना निहित है।

(ख) आधुनिक हिन्दी कविता में गांधीवादी दर्शन :

महात्मा गांधी सन् 1917 ई. में दक्षिण अफ्रिका से भारत लौटे। दक्षिण अफ्रिका से लौटने के बाद गांधीजी की कर्मभूमि भारतवर्ष बनी। उन्होंने सत्य और अहिंसा के रूप में नया संघर्षमंत्र भारतवासियों को दिया। जैसे-जैसे गांधीजी की विचारधारा देश में फैली

वैसे-वैसे देशवासियों के मन में उनके प्रति श्रद्धा और स्नेह की भावना लगातार विकसित होती गई और कुछ ही वर्षों में वे महात्मा के रूप में पूजनीय बन गए। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतवर्ष का सर्वाधिक नेतृत्व महात्मा गांधी ने किया। आधुनिक भारतीय विचारधाराओं में गांधीवाद का नाम विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। उनके व्यक्तित्व एवं कार्यों का प्रभाव जनजीवन के सभी क्षेत्रों में दिखाई देने लगा। साहित्य भी इसका अपवाद नहीं बन सका। डॉ. नगेन्द्र के मतानुसार, "गांधी के विराट व्यक्तित्व से प्रेरित होकर भारतीय भाषाओं में – विशेषकर हिन्दी में – काफी काव्य रचना हुई। उनके व्यक्तित्व में – कठोर इन्द्रिय-निग्रह द्वारा अर्जित आत्मिक शक्ति, त्याग एवं अपरिग्रह, सत्य-निष्ठा, आत्म-बलिदान, अहं का सामाजीकरण, राग का उन्नयन आदि अनेक गुण थे, जिनका देश के अधिकांश प्रबुद्ध कवियों की चेतना पर अनिवार्य प्रभाव पड़ा।"[106] गांधी के विराट व्यक्तित्व और महान विचार दर्शन से हिन्दी के लगभग सभी कवि कमोबेश मात्रा में प्रभावित हुए और यह दर्शन उनकी रचनाओं में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उभरकर सामने आया। इस गांधीवादी विचारधारा का प्रभाव हिन्दी साहित्य में सन् 1919 ई. से आरंभ होकर आज तक विद्यमान है।

गांधीवादी दर्शन हिन्दी कविता में प्रारंभ से ही व्यक्त होता रहा है। समय के बदलाव के साथ जब हम स्वयं को भूलने लगे तो गांधी दर्शन ने हमारी धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओं को हमारे समक्ष रखकर हमें जागृत किया और हिन्दी के कवियों ने उनके विचारों को अपनी कविता के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाया। जब महात्मा गांधी का भारत में आगमन हुआ उस समय हिन्दी साहित्य में द्विवेदी युग अन्तिम पड़ाव में था और छायावाद आकार ग्रहण कर रहा था। छायावादी युग में भी द्विवेदी युगीन रचनाएँ होती रही। इसलिए छायावाद और छायावादोत्तर कवियों के साथ-साथ द्विवेदी युगीन कवि भी गांधी दर्शन से प्रभावित हुए और यह दर्शन उनकी रचनाओं में उभरकर सामने आया। द्विवेदी युग की कविता दो दशकों में विकसित होती हुई गांधी दर्शन का संस्पर्श पाकर अधिक सूक्ष्म हुई और मानव जीवन के निकट आ गई। छायावादी कवि की वैयक्तिकता गांधीवाद से प्रभावित होकर सामाजिकता की राह पर चल पड़ी। छायावादोत्तर काल में मार्क्स के विचारों से प्रभावित प्रगतिवादी कवियों पर भी गांधी दर्शन की विचार-धारा का आंशिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसके अलावा नयी कविता के साथ-साथ आद्यतन हिन्दी कविता पर भी गांधी दर्शन का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दी कविता में गांधीवाद के व्यापक प्रभाव को दो रूपों में देखा जा सकता है। प्रथम के अन्तर्गत गांधीजी के व्यक्तित्व अथवा कर्म सौन्दर्य पर मुग्ध होकर प्रशस्तिपरक साहित्य का सृजन हुआ तो, द्वितीय के अन्तर्गत गांधी का प्रभाव उनके विचार-दर्शन के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। यद्यपि हिन्दी कविता में गांधीवादी दर्शन का प्रारंभ द्विवेदी

युग में हुआ, तथापि भारतेन्दु युग में भारतेन्दु व अन्य साहित्यकारों ने गांधीवाद की उपयुक्त पृष्ठभूमि का सृजन किया। गांधीवादी दर्शन के अनेक सिद्धान्त जैसे – राष्ट्रीय आन्दोलन, स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार, अस्पृश्यता निवारण तथा मानव-मूल्यों का सजीव चित्रण भारतेन्दु युग की कविता में हुआ है। भारतेन्दु रचित 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', प्रतापनारायण मिश्र रचित 'महापर्व', अम्बिकादत्त व्यास रचित 'भारत धर्म' आदि रचनाओं में उपर्युक्त विषयों का रूपायन हुआ है। अतः हम कह सकते हैं कि द्विवेदी व छायावादी युग के अनेक गांधीवादी कवियों के प्रेरणास्रोत भारतेन्दु और उस युग के कवि रहे हैं।

द्विवेदी युग : हिन्दी कविता में गांधीवाद का शुभारम्भ

महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रिका में अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा भारतीयों पर होने वाले अत्याचारों का विरोध किया। गांधीजी की इस अहिंसात्मक रणनीति ने उन्हें लोकप्रियता प्रदान की और उनके भारत आगमन के पूर्व ही हिन्दी कविताओं में उनके विचारों की छाप दिखाई देने लगी। द्विवेदी युग में अंग्रेज साम्राज्यवादियों की कूटनीति अपने चरम पर थी जिसका प्रतिकार महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा के बल पर किया। स्वतंत्रता संग्राम में गांधीजी के नेतृत्व में चलने वाले अहिंसात्मक आंदोलन का साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। द्विवेदी युग में गांधीजी के नेतृत्व में एक तरफ राजनीतिक चेतना जागृत हो रही थी तो दूसरी तरफ सांस्कृतिक पुनरुत्थान का कार्य हो रहा था। ऐसी स्थिति में द्विवेदी युगीन कवि मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, श्रीधर पाठक आदि पर गांधी विचारधारा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

महात्मा गांधी का समस्त दर्शन सत्य और अहिंसा पर आधारित है। सत्य का साक्षात्कार ही उनके जीवन का लक्ष्य था और अहिंसा इस लक्ष्य तक पहुँचने का साधन। द्विवेदी युगीन कवि मैथिलीशरण गुप्त सत्य को संसार के सभी धर्मों का मूल मानते हुए उस पर सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार हैं–

"सत्य से ही स्थिर है संसार, सत्य ही सब धर्मों का सार,
राज्य ही नहीं प्राण परिवार, सत्य पर सकता हूँ सब वार।"[107]

गांधीजी ने सत्य को ईश्वर के रूप में स्वीकार किया है। जिसके समक्ष असत्य रूपी अंधकार क्षण भर के लिए भी नहीं ठहर पाता है। गांधी के इन विचारों का काव्यानुवाद करते हुए अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔधज कहते हैं–

"सत्य के सम्मुख ठहरेगा। भला कैसे असत्य जनरव।।
तिमिर सामना करेगा क्यों। दिवस का, जो है रवि संभव।।"[108]

गांधीजी के अनुसार अहिंसा परम धर्म है। मानव कल्याण के लिए प्रेम और अहिंसा ही एकमात्र उपाय है। गांधी विचारदर्शन में वर्णित अहिंसात्मक विचारधारा की सर्वप्रथम प्रतिध्वनि मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं में मिलती है। गांधीजी अपने अहिंसा के सिद्धान्त को किसी पर थोपना नहीं चाहते थे। मैथिलीशरण गुप्त अहिंसा-सिद्धान्त को विचारपूर्वक अपनाने का आग्रह करते हुए कहते हैं–

"तुम मेरे अनुगामी, यह तो मुझ पर प्यार तुम्हारा;
पर विरोध करने का पहले है अधिकार तुम्हारा।
सोचो-समझो, मेरी बातें और उचित यदि मानो,
तो फिर तुम उनके प्रसाद का भार आप पर जानो।"[109]

महात्मा गांधी हिंसा के विरोधी थे। उनके अनुसार हिंसा को खत्म करने का एकमात्र उपाय अहिंसा ही है। गांधीवादी कवि सियारामशरण गुप्त जी भी हिंसात्मक कार्यों के कारण उत्पन्न युद्ध की समस्या का निदान अहिंसा को ही मानते हैं–

"हिंसानल से शांत नहीं होता हिंसानल
जो सबका है, वही हमारा भी है मंगल।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर-
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।"[110]

मैथिलीशरण गुप्त ने महात्मा गांधी के अस्पृश्यता निवारण को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार किया। पशुओं से भी तुच्छ जीवन जीने वाले अछूतों के प्रति स्नेह और सहानुभूति की भावना व्यक्त करते हुए वे कहते हैं –

"इसका भी निर्णय हो जाय, नहीं अछूत मनुज क्या हाय ?
अपमानित अवनत वे दीन, क्या पशुओं से भी हीन?"[111]

महात्मा गांधी ने गृहस्थ होकर भी ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए देश-सेवा की और उन्होंने सत्याग्रही के लिए ब्रह्मचर्य पालन को एक आवश्यक व्रत माना। अपने 'मिलन' शीर्षक खण्ड काव्य में वे 'आनंद' द्वारा प्रण करवाते हैं कि जब तक देश स्वतंत्र नहीं होगा तब तक मैं संयमी तहकर ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। यथा -

"जब तक देश स्वतंत्र न होगा मिटकर अत्याचार।
तब तक मैं संयमी रहूँगा ब्रह्मचर्य-व्रत-धार।।"[112]

निष्कर्षतः द्विवेदी युगीन हिन्दी कविता ने गांधी विचार दर्शन का हृदय से स्वागत किया। इस युग की कविता में गांधीविचार दर्शन के सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, हरिजनोद्धार, अभय, सर्वोदय आदि तत्त्वों की स्पष्ट अभिव्यक्ति देखी जा सकती है।

छायावाद :

गांधीविचार दर्शन का जो बीज द्विवेदी युगीन हिन्दी कविता में अंकुरित हुआ, छायावाद तक आते-आते उसने एक पौधे का रूप ले लिया। इस युग की कविता में अभिव्यंजना, शैली, उपमान, प्रतीक, विचार लक्ष्य आदि सभी पक्षों पर गांधीवाद की चारु मुद्रा का अंकन दृष्टिगोचर होता है। सुमित्रानंदन पंत की सभी रचनाओं में गांधीवाद की प्रवृत्तियों का पल्लवन हुआ है। महादेवी वर्मा "धरा के हे अमर तुमको सहस्त्र प्रणाम" – कहकर गांधीजी को श्रद्धा समर्पित करती हैं। प्रसाद कृत 'कामायनी' की नायिका श्रद्धा तकली चलाने वाली गांधी शिष्या है। अहेरी को पशुबली से रोकने वाली श्रद्धा गांधीवादी अहिंसा से अनुप्राणित है। इसके अलावा सुभद्राकुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी की कविताओं में भी गांधी विचारदर्शन का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

महात्मा गांधी ने सत्य के महत्त्व को लोगों के समक्ष उजागर किया। उन्होंने सत्य रूपी कलश को सर्वोच्च शिखर पर रखा और विश्व-प्रेम में अहिंसा के गवाक्ष को खोला। सुमित्रनंदन पंत ने सत्य को मानव जीवन की परिचालन शक्ति मानकर इसी बात को 'श्रद्धा के फूल' कविता में इस प्रकार व्यक्त किया है –

"स्वर्ण शुभ्र धर सत्य-कलश स्वर्गोच्च शिखर पर
विश्व-प्रेम में खोल अहिंसा के गवाक्ष पर!"[113]

सत्य साधक में निर्भयता, दृढ़ता और विश्वास आदि गुण होते हैं। सत्य और अहिंसा के बल पर जब वह सत्ता के अन्यायपूर्ण कार्यों का विरोध करता है तो सत्ता पक्ष को भी उसके सामने झुकना पड़ता है। इसलिए सुमित्रानंदन पंत सत्य से प्रेरित होकर ऊपर उठने के लिए दुर्बल जाति को आमंत्रण देते हैं –

"उठे सत्य से प्रेरित होकर दुर्बल, पीड़ित,
बनें सत्य के सम्मुख सत्ताधारी विनमित।"[114]

अहिंसा गांधीजी के लिए सत्य प्राप्ति का साधन थी। इस अहिंसा में दया, प्रेम, करुणा आदि सभी भाव छिपे थे। गांधीजी की अहिंसा कायरों की अहिंसा नहीं है। उसमें लाखों तलवारों का हँसते-हँसते सामना करने की शक्ति है। अहिंसा पर अपनी आस्था प्रकट

करते हुए माखनलाल चतुर्वेदी 'निःशस्त्र सेनानी' शीर्षक कविता में संसार के पलटने पर भी हाथों में तलवार न लेने की बात दोहराते हैं –

"लपकती हैं लाखों तलवार; मचा डालेगी हाहाकार।
मारने मरने की मनुहार खड़े हैं बलि पशु सब तैयार।
पलट जायें चाहे संसार न लूँगा इन हाथों तलवार।"[115]

सुभद्राकुमारी चौहान की कविताएँ भी गांधीवादी विचारों से अनुप्राणित है। वे गांधीजी की अहिंसा को ही साध्य और साधन मानती हैं। उनके मतानुसार अहिंसा के मंत्र के सामने बड़े-से-बड़े अस्त्र निरर्थक हैं –

"बह चली तोप, गल चले टैंक, बँदूकें पिघली जाती हैं;
सुनते ही मंत्र अहिंसा का अपने में आप समाती हैं।"[116]

गांधीजी ने अत्यंज, अछूत, शूद्र आदि नाम से पहचाने जाने वाले समाज के अंगों को ऊपर उठाने के लिए अनेक आंदोलन किये। उनकी इस मानवीय भावना से कवियों का हृदय प्रभावित हुआ। भगवतीचरण वर्मा 'हिन्दू' कविता में पशुओं पर दया परंतु मनुष्यों पर अत्याचार करने वाले पतितों के आचार पर प्रहार करते हुए लिखते हैं –

"अरे ये इतने कोटि अछूत, तुम्हारे वे-कौड़ी के दास !
दूर है छूने की ही बात, पाप है आना इनका पास।
किन्तु फिर भी हो सज्जन श्रेष्ठ, अरे पापी कैसा विश्वास?
'दूषितांग को काट फेंकना' मत करना उपचार –
मिटने वाले मिटने का है बस इतना ही सार।"[117]

अपरिग्रही गांधीजी श्रम में विश्वास रखते थे पर धन या अन्य कोई भी वस्तु जिसकी उन्हें आवश्यकता नहीं थी उसका संचय वे नहीं करते थे। छायावादी कवि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जी भी संचय वृत्ति के विरोधी थे। उनके अनुसार अगर संस्कृति आर्थिक उन्नति के साथ चलती है तो वल्कल वस्त्रों को धारण करने वाले पुराने युग में ज्ञान का दीपक कैसे आलोकित हुआ –

"यदि संस्कृति गति लौकिक आर्थिक,
संचय के संग-संग चलती
तो वल्कल वसनों के युग में,
कैसे ज्ञान ज्योति जलती।"[118]

महात्मा गांधी के चरखे के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए प्रसादजी 'कामायनी' में श्रद्धा द्वारा अपने पर्ण कुटीर में प्रिय के दूर चले जाने पर तकली चलाते हुए गाने का दृश्य प्रस्तुत करते हैं –

"मैं बैठी गाती हूँ तकली के
प्रतिवर्तन में स्वर-विभोर-
चल री तकली धीरे-धीरे
प्रिय गये केलने को अहेर।"[119]

गांधीवादी अर्थव्यवस्था में चरखा और खादी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चरखा स्वावलम्बन का आधार है। पंतजी के हृदय में भी चरखे और खादी के लिए अपार स्नेह का भाव है। चरखे की गति का एक ध्वनिचित्र प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं –

"भ्रम,भ्रम,भ्रम
धुन रूई, निर्धनता को धुन, कात सूत, जीवन पट लो बुन,
अकर्मण्य, सिर मत धुन, मत धुन, थम, थम, थम।"[120]

निष्कर्षतः छायावाद के सभी कवियों ने कमोबेश गांधी विचारदर्शन को अपने काव्य का विषय बनाया। परन्तु महाप्राण निराला की समझ में गांधीवाद की अहिंसा कोई मायने नहीं रखती। गांधीवाद उनके अग्निमय व्यक्तित्व के अनुकूल नहीं है। फिर भी 'भिक्षुक' कविता की अन्तिम पंक्तियों में करुणामूलक गांधीविचार दर्शन झलकता है। 'वह तोड़ती पत्थर' में गांधी का संवेदनशील हृदय पुकार उठा है। अतः प्रमुख छायावादी कवियों के स्वर के आधार पर कहा जा सकता है कि छायावाद का सबसे बलिष्ट स्वर गांधीवाद का ही रहा है।

प्रगतिवाद :

सन् 1936 में हिन्दी कविता में प्रगतिवादी विचारधारा का उदय हुआ। गांधी विचारदर्शन का लक्ष्य सामाजिक कुरीतियों का खात्मा, पूँजीवाद व शोषण का अंत तथा पतितों व दलितों का उद्धार था। प्रगतिवादी कवियों की कलम का मूल लक्ष्य भी यही रहा। उन्होंने उदार अन्तर्राष्ट्रीय भावना को प्रश्रय दिया, शोषण का प्रतिरोध किया, वर्गविहीन समाज की परिकल्पना की एवं मानवतावादी आदर्शों की प्रतिष्ठा की, जो गांधीवादी भावनाओं से ओत-प्रोत है। रामधारी सिंह 'दिनकर', सोहनलाल द्विवेदी, नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन' रामविलास शर्मा आदि प्रमुख प्रगतिवादी कवि यद्यपि मार्क्सवाद की ओर झुके रहे, तथापि इन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से गांधीवाद का मार्ग प्रशस्त

किया। गांधीजी विश्व के शांतिकामी थे। उनका मानना था कि जगत में अशांति का कारण जाति, धर्म, समाज, धन आदि के कारण असमानता है। इस असमानता को दूर करने के मार्ग हैं युद्ध और हृदय परिवर्तन। गांधीजी ने हिंसात्मक युद्ध मार्ग से विमुख होकर अहिंसा और प्रेम द्वारा हृदय-परिवर्तन का मार्ग अपनाया। 'दिनकर' के विचारानुसार संसार में जब तक सब को बराबर सुख नहीं मिलता तब तक शांति संभव नहीं है –

"शांति नहीं तब तक, जब तक
सुख भाग न नर का सम हो"[121]

नरेन्द्र शर्मा यद्यपि मार्क्सवादी थे पर इनकी आस्तिकता ने इन्हें गांधीवादी बना दिया। सुमित्रनंदन पंत की तरह ये भी अहिंसक मार्क्सवादी रहे हैं। इन्होंने महात्मा गांधी की अहिंसा का केवल उल्लेख ही नहीं किया, बल्कि गांधीवाद को आत्मसात् करते हुए अहिंसा को पूर्णतया समझाया है। उनका मानना है कि गांधी ने जिस अहिंसक क्रांति का सूत्रपात किया वह अनूठी है –

"क्रान्तियाँ जग में हुई अब तक कई,
पर अहिंसा क्रांति की संज्ञा नयी शैल नयी!
साध्य-साधक और साधन में न हो व्यवधान जब,
क्रांति तब मंगलमयी करुणामयी।"[122]

ब्रह्मचर्य गांधीविचार दर्शन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। सत्य की आराधना के लिए इसका पालन आवश्यक है। सोहनलाल द्विवेदी गांधीजी के विचारानुसार स्वातंत्र्य-संग्राम के लिए ब्रह्मचारी युवकों की कामना करते हैं। ब्रह्मचर्य का अभंगव्रत धारण करने वाले सत्याग्रहियों का वर्णन करते हुए अपनी 'दांडी-यात्रा' कविता में वे लिखते हैं –

"पति चले, चली पत्नी पुलकित मन में उत्साह अतुल उमंग,
स्वाहा कर सुख वैभव विलास ले ब्रह्मचर्य का व्रत अभंग!"[123]

महात्मा गांधी ने हरिजनोद्धार के कार्यक्रमों को प्रमुखता दी थी। हरिजनों के उद्धार के लिए उन्होंने अनेक बार अनशन भी किए। इन अनशनों से आकृष्ट हो अनेक कवियों ने भी भारतीय समाज में व्याप्त इसी कुरीति की घोर भर्त्सना की। सोहनलाल द्विवेदी ने अछूतोद्धार की भावना को उजागर करने वाली अनेक कविताएँ लिखी हैं। अस्पृश्यों को मन्दिर प्रवेश का अधिकार दिलाने की माँग को प्रस्तुत करने वाली कविता का निम्न अंश पठनीय है –

"क्यों तुमने शबरी निषाद की अपने मन से बात बिसारी ?

मैं भी एक उन्हीं के कुल का प्रभु-पद-पूजन का अधिकारी।

खोलो मंदिर-द्वार पुजारी !"[124]

सारांशतः प्रगतिवादी युग में कवियों ने मार्क्स की क्रान्तिमूलक समता के साथ-साथ गांधीजी की शान्तिमूलक समता को भी स्वर दिया है। प्रगतिवाद के अन्तर्गत आने वाली समस्त कृतियों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से गांधीवाद का आंशिक या पूर्ण प्रभाव पड़ा है।

प्रयोगवाद :

प्रगतिवाद के साथ प्रयोगवाद का निकट का सम्बन्ध है। दोनों वादों की कविता में जनजीवन व समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। प्रयोगवाद की घुटन के मध्य भी गांधी विचारदर्शन का प्रभाव इस युग की कविता में देखने को मिलता है। विचार क्षेत्र में जिन प्रयेगवादी कवियों ने गांधी विचारदर्शन को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपनाया उनमें सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', गजानन माधव मुक्तिबोध, शमशेरबहादुर, भवानीप्रसाद मिश्र, कुँवर नारायण आदि प्रमुख हैं।

एक युद्ध बीत चुका था, दूसरा सम्भावित था। अहिंसा के बल पर विश्व शांति का स्वप्न देखने वाले महात्मा गांधी शान्ति स्थापना के लिए युद्ध और अणु बम के विरोध में स्वर मुखरित कर रहे थे। गांधी के इन विचारों के प्रभावस्वरूप युद्ध, शान्ति एवं विनाश की विश्वव्यापी चिन्ता प्रयोगवादी कवि नरेश मेहता की चेतना को आक्रान्त कर देती है। युद्ध के नरसंहार को देखकर उनका मन वितृष्णा से भर उठता है –

"नरसंहार के व्यामोह के प्रति

वितृष्णा से भर उठा हूँ।"[125]

महात्मा गांधी विश्व में अस्त्र-शस्त्र की बढ़ती होड़ को लेकर चिन्तित थे। उनका मानना था – "अणु-बमों के बढ़ने से सिर्फ पश्चिम का ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया का नाश हो जायेगा।"[126] प्रयोगवादी कविता अणु युद्ध की इस भीति को अच्छी तरह समझती है। यही कारण है कि वह परमाणु विखण्डन की विभीषिका को काव्यात्मक स्वर देने से नहीं कतराती। महाविध्वंसकारी अणु युद्ध मनुष्यता का मरण पर्व का रूप ले लेता है। सूर्योदय का देश जापान इस महान संकट के अंधकार का पहला साक्षी बनता है इसका वर्णन अज्ञेय 'हिरोशिमा' में करते हुए कहते हैं –

"मानव का रचा हुआ सूरज

मानव को भाप बनाकर सोख गया

पत्थर पर लिखी हुई यह

जली हुई छाया

मानव की साखी है।"[127]

अपने विचार दर्शन द्वारा देश और समाज को दिशा प्रदान करने वाले युग सूर्य महात्मा गांधी के तिरोभाव ने प्रयोगवादी कविता को मर्माहत कर दिया था। मलयज को गांधीजी के प्रस्थान में सूर्यास्त की प्रतीति हुई थी। उन्होंने प्रकाश-वंचित भारत की रिक्तता को बड़ी गहराई से महसूस किया था –

"ज्योति-पुरुष चले गये!
निर्निमेष तकती हताश घाटी के वक्ष पर
सिन्दूरी चरण धर निर्मोही गौतम से!
x x x x
आती है एक ध्वनि, आह हम छले गये!
छले गये!!"[128]

सारांशतः निराशा, अवसाद और अकेलेपन की अभिव्यक्ति, नुतन प्रयोगों की दुरुहता, बौद्धिकता और विचित्र शिल्प शैली में उलझे प्रयोगवादी कवियों के पास गांधी विचारदर्शन की अभिव्यक्ति के लिए अवकाश नहीं था। फिर भी विश्वयुद्ध की सम्भावना के चलते महात्मा गांधी के अहिंसा सम्बन्धी विचार इस युग की कविता में दिखाई पड़ते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर कविता :

बौद्धिकता की छाया में विकसित स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में स्वतंत्रता के बाद गांधीवादी मूल्यों के पतन, विश्व शांति, शोषण, अत्याचार, जात-पाँत आदि के सन्दर्भ में नागार्जुन, प्रेमशंकर, जगदीश गुप्त, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि कवियों की कविताओं में गांधीवादी दर्शन की अनुगुँज सुनाई पड़ती है।

महात्मा गांधी अस्त्र-शस्त्र का विरोध करते हुए अहिंसा के बल पर शांति स्थापित करना चाहते थे। आज चारों तरफ अस्त्र-शस्त्र के बल पर हिंसा का साम्राज्य कायम है जिसे देखकर मानवतावादी कवि नागार्जुन का हृदय व्यथित है। वे अस्त्र-शस्त्र के मतवालों से प्रश्न करते हैं –

"अस्त्र-शस्त्र के मतवालों की
जाने कब तक आंख खुलेगी ?"[129]

महात्मा गांधी के हृदय में विश्व के सभी प्राणियों के प्रति संवेदना थी। जनहित को प्राथमिकता देते हुए उन्होंने विश्वशान्ति को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। मार्क्सवादी होने के बावजूद नागार्जुन पर गांधी की विश्व-दृष्टि का प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि

नागार्जुन व्यष्टि-समष्टि और राष्ट्र से ऊपर उठकर विश्व की चिन्ता करते हैं। विराट जगत में जहाँ कहीं भी शोषण, अनाचार और अत्याचार दिखाई पड़ता है तो वे शोषितों और पीड़ितों में नवजीवन के संचार का प्रयास करते हैं –

"व्यक्ति-व्यक्ति में संचारित हो, नवजीवन का नव प्राण
गाँव-गाँव यह नगर-नगर, गढ़ हो मानवता का।"[130]

महात्मा गांधी ने देश की स्वाधीनता के लिए अपना सर्वस्व होम कर दिया। पर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उनके सिद्धान्तों की धज्जियां उड़ाने में राजनेताओं ने कोई कसर नहीं रखी। गांधीवादी मूल्यों के पतन को देखकर मार्क्सवादी कवि नागार्जुन का हृदय आहत हुआ। गांधीवादी मूल्यों के पतन के कारण इन तथाकथित राजनेताओं पर व्यंग्य करते हुए नागार्जुन लिखते हैं –

"प्रेम पगे हैं, शहद सने हैं तीनों बंदर बापू के
गुरुओं के भी गुरु बने हैं तीनों बंदर बापू के
सौवीं बरसी मना रहे हैं तीनों बंदर बापू के
बापू को ही बना रहे हैं तीनों बंदर बापू के"[131]

अस्पृश्यता या छुआछूत एक सामाजिक प्रश्न होते हुए भी धार्मिक प्रश्न है जिसका महात्मा गांधी आजीवन विरोध करते रहे। इसी अस्पृश्यता के खिलाफ कवि प्रेमशंकर सभ्य कहे जाने वाले लोगों पर प्रहार करते हुए कहते हैं –

"वे सभ्य है
आदमी से हाथ मिलाने के बाद
हाथ धोते हैं माँजते हैं
और फिर मुस्कुरा कर कहते हैं हम एक हैं"[132]

महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता-निवारण के लिए घोर संघर्ष किया था। उन्होंने लिखा है – "मैं फिर से जन्म नहीं लेना चाहता, लेकिन यदि लेना भी पड़े तो मैं अस्पृश्य के रूप में पैदा होना चाहूँगा, जिससे मैं उनकी वेदनाओं, कष्टों और उनके साथ किये जाने वाले व्यवहारों में साझीदार हो सकूँ।"[133] जातिगत उच्चता-निम्नता में बँटा समाज दबे-कुचले लोगों को ऊपर उठने से रोकता है। अधमजाति के वांचित सत्पात्र की वेदना को व्यक्त करते हुए कवि जगदीश गुप्त कहते हैं –

"नीचे गिरे होने का दुख झेल
मैंने ही चाहा था इस भाँति

जीवन में अपनी स्वाभाविक गति पा लेना
लेकिन जो भेद मान्य है, प्रमाणित है, पूज्य है
मानव-समाज में वही सदा मेरे आड़े आयी"[134]

कवि हृदय अति संवेदनशील होता है। उनके लिए हर क्षण कोई न कोई युद्ध चल रहा होता है। पर यह युद्ध रक्त-रंजित इतिहास नहीं लिखता। यह ऐसा युद्ध है जो वर्तमान विसंगतियों पर प्रहार करते हुए गांधी मार्ग की ओर ले जाकर मानवीय मूल्यों की सृष्टि करता है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की दृष्टि में –

"कितने छोटे हैं वे मोर्चे
उस लड़ाई के आगे
वे सामाजिक चालें
जो इन्सानियत के सन्दर्भ में इन्सान लड़ता है।"[135]

इस प्रकार महात्मा गांधी ने सपनों के जिस भारत की कल्पना की थी उनकी मृत्यु और स्वतंत्रता के बाद उसकी धज्जियाँ उड़ गई। चारों तरफ अत्याचार, अनाचार, शोषण का बोलबाला हो गया। अस्पृश्यता ने सिर उठाया तथा चारों तरफ अशांति का वातावरण बन गया। ऐसी स्थिति में अहिंसा, अस्पृश्यता निवारण और गांधीवादी मानव मूल्य स्वातंत्र्योत्तर कविता के मूल स्वर बन कर उभरे।

निष्कर्षतः आधुनिक हिन्दी कविता में गांधीवादी दर्शन का प्रारम्भ द्विवेदी युग से हुआ। द्विवेदी युगीन कवि मैथिलीशरण गुप्त, उपाध्यायसिंह हरिऔध, सियारामशरण गुप्त आदि ने गांधीवाद का हृदय से स्वागत किया और गांधी दर्शन के सत्य, अहिंसा, सर्वोदय आदि तत्त्वों को अपनी कविता में उतारा। मैथिलीशरण गुप्त तो गांधी की भाँति सत्य को संसार का मूल धर्म मानते हैं। छायावाद का तो सबसे बलिष्ट स्वर गांधीवाद ही है। गांधी विचारदर्शन के प्रभावस्वरूप छायावाद की वैयक्तिकता सामाजिकता की राह पर चल पड़ी। छायावाद में निराला को छोड़कर शेष सभी कवियों ने गांधी विचारदर्शन को अपने काव्य का विषय बनाया। प्रगतिवादी कवियों ने गांधीवाद को स्वीकार तो नहीं किया पर मानवीय गुणों के विकास के सन्दर्भ में महात्मा गांधी की अहिंसा तथा विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रभाव रामधारी सिंह 'दिनकर', नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगलसिह 'सुमन' आदि पर स्पष्ट देखा जा सकता है। इन्होंने मार्क्स की क्रान्तिमूलक समता के साथ-साथ गांधीजी की शांतिमूलक समता को भी स्वर दिया है। प्रयोगवादी कविता में यथार्थ चित्रण और घुटन के बावजूद गांधी विचारदर्शन का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव देखा जा सकता है। स्वातंत्र्योत्तर कविता का मूल स्वर भी गांधीवादी मानव-मूल्य ही है। इस प्रकार द्विवेदी युग से आरम्भ

होकर छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, स्वातंत्र्योत्तर कविता, समकालीन कविता के साथ-साथ आद्यतन हिन्दी कविता पर भी गांधी दर्शन का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(ग) भवानीप्रसाद मिश्र का व्यक्तित्व और गांधीवाद :

भवानीप्रसाद मिश्र आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में अपने ढंग के एक विशिष्ट और अनूठे कवि हैं। इन्होंने आधुनिक हिन्दी कविता की अनेक धाराओं से तत्त्व ग्रहण कर अपने लिए एक नई राह विकसित की जो वादों के संकीर्ण और सीमित गलियारों से मुक्त है। सन् 1930 ई. से आरम्भ होने वाली इनकी काव्य साधना में न तो कोई वाद है न दल। इनका व्यक्तित्व सादगी की प्रतिमूर्ति है। जितनी सादगी इनके व्यक्तित्व में है, उतनी ही उनके कृतित्व में भी दिखाई पड़ती है। व्यक्तित्व और कृतित्व की सादगी में समन्वय स्थापित करने वाले भवानीप्रसाद मिश्र एक आदर्श कवि हैं जिनकी आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में अपनी पहचान है, अलग व्यक्तित्व है और अलग स्वाभिमान है।

भवानीप्रसाद मिश्र का परिचय प्रस्तुत करने के नाम पर चाहे कोई उनके व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन से सम्बन्धित कितने ही तथ्यों का संचय कर ले परन्तु उनके व्यक्तित्व की सारी विशेषताओं का निरूपण कर पाना दुष्कर कार्य है। एक सामर्थ्यवान सर्जक युगीन सामाजिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों की उपज होता है और भवानीप्रसाद मिश्र का व्यक्तित्व भी अपने समय और समाज की परिस्थितियों का ही प्रतिफलन है। इसलिए उनके व्यक्तित्व को जानने का बेहतर माध्यम उनका रचना संसार है। उनके कवि व्यक्तित्व और जीवन अनुभवों की सीधी अभिव्यक्ति उनके सृजन में अनेकशः हुई है। उनकी रचनाएँ उनका प्रतिबिम्ब है, जिनमें उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व झाँकता हुआ दिखाई देता है। सारांशतः उनका खुला रचना संसार ही उनका खुला परिचय है। हम जिस तरह बोलते हैं, ठीक उसी तरह लिखना और उसके बाद उससे बड़ा दिखना उनका आरंभ से ही प्रण है। यथा –

"जिस तरह हम बोलते हैं, उस तरह तू लिख
और इसके बाद भी हमसे बड़ा तू दिख।"[136]

अपने अंदर के कवि से उनकी हमेशा यही प्रार्थना रही कि उनका काव्य विश्व मानव के हृदय की धड़कन बन सके। उसमें लोक कल्याण, मानव जाति की एकता और मानवीय सहानुभूति वरदान के रूप में विद्यमान हो। प्रेम और करुणा इनके काव्य के रेशे-रेशे में इस भाँति समाया है कि उसे एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। प्रेम और करुणा के इस अटूट सम्बन्ध ने ही उन्हें गांधी विचारदर्शन का समर्थ गायक बना दिया। ऐसी स्थिति में उनका सम्पूर्ण परिचय प्रस्तुत करने का दावा करना और भी कठिन कार्य है। फिर भी उनके

विशाल कवि व्यक्तित्व को समझने-समझाने के लिए एक छोटी सी झाँकी प्रस्तुत की जा सकती है, जिसमें उनके अन्दर के सर्जक को पहचाना जा सके।

भवानीप्रसाद मिश्र का जन्म 29 मार्च को मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिलान्तर्गत टिगरिया नामक गाँव में एक जुझौतिया ब्राह्मण परिवार में हुआ था। विजय बहादुर सिंह को लिखे एक पत्र में अपने जन्म एवं वंश के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है –" मेरे पास मेरी जन्म कुंडली थी, उसके सहारे समय आदि बताया जा सकता था, किन्तु वह मैंने नर्मदा में विसर्जित कर दी थी, इसलिए केवल जन्मतिथि 29 मार्च,1913, गाँव टिगरिया, तहसील सिवनी- मालवा, जिला होशंगाबाद (म.प्र.) से काम चलाइये। मेरे पितामह बुन्देलखण्ड के हम्मीरपुर नामक कस्बे से मध्यप्रदेश आ गए थे। उनकी जीविका मंदिर में पूजा करके चलती थी। उनके पाँच बेटे थे। मेरे पिता पं. सीताराम जी सबसे छोटे भाई थे।"[137] भवानीप्रसाद मिश्र के पिता एक संस्कार सम्पन्न व्यक्ति थे। हिन्दी के अलावा संस्कृत और अंग्रेजी भाषा के भी वे अच्छे जानकार थे। इसके अलावा वे पुस्तक प्रेमी थे जिसके कारण उनके पास श्रेष्ठ साहित्य का संग्रह था। गीता, रामायण का वे नित्य पाठ किया करते थे। वे स्वयं बालक भवानी को श्लोक और कवित्त रटाकर शिक्षा देते थे। कवि भवानीप्रसाद मिश्र को बचपन में माँ का भरपूर प्यार मिला। इसलिए उन्होंने प्रसन्न मन से कहा भी है –

"मां कि जिसके गोद में सिर,
रख लिया तो दुख नहीं फिर,
माँ की जिसकी स्नेह-धारा,
का यहाँ तक भी पसारा,"[138]

भवानीप्रसाद मिश्र की माँ श्रीमति गोमती देवी एक कर्त्तव्यपरायण और गृहकार्य में दक्ष महिला थी। भावुकता उनके व्यक्तित्व का सहजात गुण था। माता-पिता के इन उच्च संस्कारों का पूरा प्रभाव भवानीप्रसाद मिश्र के व्यक्तित्व पर पड़ा और उनका समस्त सृजन उन्हीं संस्कारों से प्रेरित है। भवानीप्रसाद मिश्र का बचपन ग्रामीण वातावरण में बीता। उनके पिता गृहस्थ थे। घर में गाय बैल और घोड़े रखते थे। घर के सभी लोग मिलकर गायों और अन्य पशुओं की सेवा करते थे। घी, दूध और दही की घर में कोई कमी नहीं थी। उन्होंने लिखा भी है – "जब मैं अपने बचपन के बारे में सोचता हूँ तो ज्यादा ख्याल आसपास के लोगों का नहीं आता, बल्कि आस-पास के पशुओं का आता है। जैसे हमारे घर में एक घोड़ा सदा रहा। पिताजी दो सवारी साथ रखते थे – एक घोड़ा और एक जोड़ी बैल – बैलगाड़ी के लिए। हमारे घर में गायें थीं। गायों को दुहना, बाँधना, छोड़ना, कभी-कभी नहलाना-धुलाना हम सभी भाई-बहन खुबी के साथ कर लेते थे।"[139] वे बचपन में गिल्ली डंडा, चकरी और भौंरी खेलते थे, पर इन खेलों में वे अधिक कुशल नहीं थे। दूर-दूर तक घूमना

उन्हें अच्छा लगता था। अपने बचपन की रुचियों के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है – "मेरी बचपन की रुचियाँ कुछ खास नहीं थी, उन दिनों खेलों में गुल्ली-डंडा, चकरी और भौंरा यही मुख्य थे।"[140] अपने बचपन को याद करते हुए उन्होंने कहा है – उनके जमाने में माता-पिता बच्चों का ध्यान रखते थे। आवश्यकता से अधिक घर से बाहर नहीं जाने दिया जाता था। परन्तु काम से प्रायः बाहर जाना पड़ता था। इसके अलावा घर के छोटे-मोटे काम भी करने पड़ते थे।[141] कवि की इन बातों से स्पष्ट है कि बचपन से ही उन्हें अनुशासन में रहना पड़ा और यह संस्कार रूप में जीवन के अंतिम क्षणों तक उनके साथ था।

भवानीप्रसाद मिश्र की प्रारंभिक शिक्षा सोहागपुर में हुई और हाई स्कूल की शिक्षा उन्होंने होशंगाबाद व नरसिंहपुर में पूरी की। सन् 1934-1935 में हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी विषयों के साथ जबलपुर के रॉबर्टसन कॉलेज से बी.ए. पास किया। इसके बाद आगे पढ़ना उन्हें अनावश्यक लगा। उनका यह मानना था कि शिक्षण संस्थानों से अर्जित ज्ञान पर्याप्त नहीं होता। व्यवहार और अनुभव से भी काफी कुछ सीखा जा सकता है। इस दृष्टि से कबीर, सूर, तुलसी आदि भक्त और संत कवि उनके आदर्श थे जिनको अनुभव और व्यवहार की पाठशाला ने उन्हें ठोक-ठोक कर तैयार किया था। एक शिक्षार्थी की भाँति वे जीवन पर्यन्त शिक्षा ग्रहण करते रहे। भवानीप्रसाद मिश्र ने जिस समय लिखना शुरू किया उस समय छायावाद की धूम थी। पर उनका दृष्टिकोण छायावादी कवियों से भिन्न था। उनके व्यक्तित्व पर किसी के प्रभाव की बात करें तो विश्व कवि रविन्द्रनाथ ठाकुर, संस्कृत के कालिदास, अंग्रेजी के वड्र्सवर्थ, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी और महात्मा गांधी प्रमुख हैं। यह विशेष स्मरणीय है कि भवानीप्रसाद मिश्र के व्यक्तित्व और उनकी रचनाओं पर सर्वाधिक प्रभाव आधुनिक भारत के निर्माता महात्मा गांधी का है। गांधी विचारदर्शन का हर पक्ष उनके व्यक्तित्व और कवि कर्म में देखा जा सकता है। अर्थात् भवानीप्रसाद मिश्र का पूरा सृजन संसार ही गांधीमय है।

भवानीप्रसाद मिश्र के समकालीन कवियों में जहाँ कल्पनाशीलता और वामपंथी विचारधारा का प्राबल्य है, वहीं अन्य कवियों से अलग हटकर इनमें उपनिषद, बुद्ध, गांधी विचारदर्शन का सन्तुलन दिखाई पड़ता है। ऐसा लगता है कि युद्ध के प्रति उन्माद और कोरी भौतिकता को देखकर गांधी विचारधारा में उनकी आस्था दृढ़ हुई। नई कविता के ज्यादातर कवि जहाँ एक ओर अस्तित्ववादी फार्मुले में अपने को व्यक्त कर रहे थे वहीं भवानीप्रसाद मिश्र बिना टूटे एवं झुके अहिंसा की कविता गुनगुनाते हुए दिखाई पड़ते हैं। अपनी मौलिक शैली में चमत्कार प्रदर्शन से दूर वे अपने मन की बात बिल्कुल ठीक ढंग से कहने के लिए कलम साधते हैं। एकदम सादे ढंग से 'जिस तरह हम बोलते हैं उस तरह तू लिख' के संकल्प के साथ। उनका मानना है कि सरलता और सहजता अपनाने पर ही कवि

बड़ा बनता है। ऐसा करने पर कविता का विशद विस्तार होता है और कवि 'दिवारों से निकल कर मैदानों' का छन्द हो जाता है। भवानीप्रसाद मिश्र के कवि व्यक्तित्व की इसी विशेषता को देखकर कृष्णदत्त पालीवाल कहते हैं – "वे जोती हुई जमीन को न जोतकर, परती को तोड़कर गोड़ते-जोतते हैं और एक मेहनती किसान की भाँति उसे खूब कमाकर बीज बोते हैं। बीज के उगने पर खुरपी से निराई करते हैं और जमीन को पोली करके पौधे को उगने का अवसर देते हैं। ऐसा करके वे शब्दों की नस्ल सुधारते हैं और स्वस्थ बीज औरों को देते हैं। उन्होंने अपने को इस कला में इतना ढाल लिया है कि उनके 'मैं और शब्द और कर्म' के बीच की दूरी लगभग खत्म होती हुई महसूस होती है। शब्द और सत्य को मिलाने की इसी तमीज का पर्याय है – भवानीप्रसाद मिश्र की कविता।"[142] साहित्य के विविध वादों और दलों से दूर भवानीप्रसाद मिश्र एक ऐसे कवि हैं जो जरूरत पड़ने पर शब्द के लिए सिर दे सकते हैं। गांधी विचारदर्शन की निष्ठा ने भवानीप्रसाद मिश्र के कवि व्यक्तित्व को शब्द और कर्म से जोड़ दिया। इनमें कबीर की भाँति साहस और फक्कड़पन दोनों एक साथ दिखाई पड़ते हैं। इन्हें किसी भी प्रकार का सत्य कहने में भय की प्रतीति नहीं होती। यथा –

"मेरे यहाँ रहन रखी है युगों-युगों से युग की वाणी,
मेरे गीतों में बसती है सत्य-सुन्दरी, माँ कल्याणी!"[143]

वर्तमान युग में जहाँ लेखक या कवि पुरस्कार या सम्मान प्राप्त करने के लिए काव्य संग्रह छपवाकर गोष्ठियाँ करवाते हैं, आलोचनाएँ लिखवाते हैं, वहीं भवानीप्रसाद मिश्र सत्ता को ठोकर मारकर चेतना की बात करते हैं। भवानीप्रसाद मिश्र एक ऐसे व्यक्ति का नाम है, जो न तो सम्मान से विस्तृत होता है और न सम्मान को अपनी नियति मानता है। उन्होंने कभी किसी सम्मान या पुरस्कार की इच्छा नहीं जाहिर की। सन् 1982 में हिन्दी संस्थान लखनऊ ने निर्णायक मण्डली द्वारा भवानीप्रसाद मिश्र के नाम की सिफारिश के बावजूद उनतीस हजार का पुरस्कार यह कहकर खारिज कर दिया कि उनके काव्य में विपक्ष की गंध आती है। सत्ता के इस छोटे निर्णय ने भवानीप्रसाद मिश्र का कद और बड़ा कर दिया। इस घटना की जानकारी कवि को मिली तो उन्होंने अडिग स्वर में कहा – "मैंने लिखते हुए कभी पुरस्कारों के बारे में नहीं सोचा, मैंने अपनी चेतना और भावना को व्यक्त किया है और आगे भी करता रहूँगा। मेरी रचना सरकार या समालोचक की इच्छा पर कभी नहीं चली, उसकी एक अपनी प्रकृति है, अपना स्वभाव है।"[144] भवानीप्रसाद मिश्र की रचनाओं का उद्देश्य अपनी चेतना और भावना की अभिव्यक्ति था। सम्मान और पुरस्कार के

लिए वे रचना कर्म में प्रवृत्त नहीं हुए थे। गांधी की विचार-मशाल के प्रभावस्वरूप ही वे इस उद्देश्य में सफल हुए।

भवानीप्रसाद मिश्र के व्यक्तित्व पर गांधी के विचारों का विशेष प्रभाव है। गांधी विचारधारा के प्रभावस्वरूप उनकी रचनाओं में स्नेह-भाव से गांधी विचारों को अभिव्यक्ति मिली है। और यह तब संभव हुआ जब भवानीप्रसाद मिश्र ने गांधीवादी दर्शन को विचार के स्तर से उठाकर अनुभव के स्तर पर उतारा है। यही कारण है कि गांधी के सत्य और अहिंसा के प्रति उनका आग्रह उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व में बराबर परिलक्षित होता रहा है। कृष्णदत्त पालीवाल के अनुसार – "सम्पूर्ण काव्ययात्रा में गांधी विचार दर्शन की इतनी निष्ठा से साहित्य में प्रतिष्ठा करने वाला उनकी तरह का कोई दूसरा कवि नहीं है। फिर समकालीन कविता के नये कवियों में तो गांधी-विचारधारा को सम्पूर्ण आस्था से काव्य-आचरण में ढालने वाला ऐसा कवि दुर्लभ है।"[145] भवानीप्रसाद मिश्र को गांधी के विचारों ने बनाया है। गांधीवाद केवल भवानीप्रसाद मिश्र की कविताओं तक सीमित नहीं था। जीवन के हर स्तर पर वे गांधीवादी थे। उनके जीवन की अनेक घटनाएँ उन्हें गांधीवादी सिद्ध करती हैं। ऐसी ही एक घटना उनके विवाह के समय की है जिसका उल्लेख भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली के सम्पादक विजय बहादुर सिंह ने भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली की भूमिका 'वे तो अपनी राह चल रहे थे' में करते हुए लिखा है – "उन दिनों दूल्हे पालकी पर चढ़ कर जाते थे जिनमें पालकी को ढोने वाले कहारों के कंधे लगते थे। भवानी भाई दूल्हे के रूप में इस प्रकार की सवारी के लिए तैयार नहीं हुए। एक व्यक्ति सज-धज कर बैठे और चार आदमी उसे बैल की तरह ढोएँ यह किसी भी स्थिति में शोभाजनक कैसे हो सकता है। परिवार के लोगों और नाते-रिश्तेदारों के बीच इस इनकार को लेकर काफी खलबली मची। भवानीप्रसाद मिश्र अंततः द्वार पूजन के लिए सारे बारातियों के साथ पैदल ही गए, पालकी लौटा दी गई।"[146] पालकी ढोनेवाले कहारों के प्रति ऐसी संवेदनशीलता गांधीवादी दर्शन का ही प्रभाव थी। भवानीप्रसाद मिश्र के संस्कारों की जड़ भारतीय संस्कृति के गतिशील मूल्यों में पनपी है। परन्तु भारत की नयी पीढ़ी मूल्यवान भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं से दूर होती जा रही है। उस पर विदेशी वस्तुओं और फैशन का भूत सवार है। विदेशी नारे लगाने वालों को देखकर कवि को लज्जा का अनुभव होता है। उन पर तरस खाते हुए वे कहते हैं –

"जो कुछ विदेशों से नहीं आता
वह हमें भाता ही नहीं है।"[147]

कवि भवानीप्रसाद मिश्र हमारी परम्परा की मूल्यवान धरोहर को हम तक पहुँचाना चाहते हैं। यही कारण है कि वे गांधी के विचारों और कामों के बारे मे लिखते रहे हैं। उनका

मानना था कि गांधी विचारदर्शन और गांधी का नाम ही मानवता की परम्परा में नवजीवन की मशाल प्रज्जवलित कर सकता है। अणु बम की जगह गांधी विचारधारा संसार को बेहतर बनाने में सक्षम है। इसलिए भवानीप्रसाद मिश्र कविता लिखकर वैज्ञानिक-युद्ध की सम्भावना को खत्म करना चाहते हैं। अंग्रेजों की शोषण नीति ने भारतीय किसानों और कारीगरों की कमर तोड़ दी। भारतीय किसान-कारीगरों के इस पृष्ठभूमि को समझकर गांधीजी ने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार के लिए खादी आन्दोलन आरम्भ कर जनमत तैयार किया। गांधीजी के इस खादी आन्दोलन का भवानीप्रसाद मिश्र के व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव पड़ा। भवानीप्रसाद मिश्र ने लिखा हैं – "खादी की आर्थिक दृष्टि मुझे भली लगती है। जो काते सो पहने वाली बात बिल्कुल ठीक है। खादी के प्रति मेरी दृष्टि स्नेह-बन्धन की है। मैं खादी को राष्ट्रीयता का प्रतीक नहीं मानता, मानवीयता का प्रतीक मानता हूँ।"[148] रहन सहन और वेशभूषा से भी भवानीप्रसाद मिश्र पक्के गांधीवादी हैं। खादी उनके लिए वस्त्र नहीं विचार है। अपनी मिट्टी, इतिहास, दर्शन, परम्परा, संस्कृति और सभ्यता के प्रति उनके मन में उतना ही लगाव था जितना कि महात्मा गांधी का। वे गांधी के अंधभक्त नहीं थे। गांधी विचारदर्शन को उन्होंने ग्रहण किया क्योंकि उन्हें लगता था वे उनके अपने विचार हैं। उन्होंने स्पष्ट घोषणा करते हुए कहा है – "अगर यह गांधी ने कहा है तो मैंने भी कहा है। सिर्फ गांधी ने कहा होता तो मैं इसे कभी नहीं मानता। ये मेरे भीतर की बात न होती तो कभी नहीं कहता?"[149] यही कारण है कि भवानीप्रसाद मिश्र की कविताओं को पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि वे गांधी विचारों का काव्यानुवाद है। पर वास्तविकता यह है कि महात्मा गांधी के विचार कविता में उनके अपने विचार बनकर व्यक्त हुए हैं। इस दृष्टि से भवानीप्रसाद मिश्र अन्य गांधीवादी कवियों से बिल्कुल अलग है। उनके विचार और व्यक्तित्व में तादात्म्य है। अन्य कवियों ने जहाँ कविता में गांधीवाद को चिपका दिया वहीं भवानीप्रसाद मिश्र ने कविताओं में गांधीवाद को स्थापित किया है।

महात्मा गांधी के विचारों को मूर्त्त रूप देने के लिए उन्होंने बच्चों को शिक्षा देने के विचार से एक स्कूल खोला। गांधी के विचारों और कार्यों से जुड़कर उनके बारे में लिखते रहे। "गांधी उनके लिए भविष्य नहीं वर्तमान हैं। गांधी की आँखों में देश का एक मधुर स्वप्न था जिसे गांधी ने खुली आँखों से देखा था और एक हद तक साकार हो रहा था। लगभग एक समूची तपती हुई बंजर दुनिया को गांधी ने प्रेम से सींचकर हरा-भरा कर दिया था। प्रेम का यही हरा भरापन भवानीप्रसाद मिश्र की कविता है।"[150] गांधी विचारदर्शन ही भारतीय संस्कृति रूपी वृक्ष का मूल है जिसमें प्रेम की शक्ति के फल लगे हैं। गांधी

विचारदर्शन में ही भवानीप्रसाद मिश्र का व्यक्तित्व अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति पा सका है। भवानीप्रसाद मिश्र के लिए गांधी की वाणी एक सांस्कृतिक परम्परा की वाणी है जिसमें तुकाराम, दादू, कबीर, कणप्पा, नानक आदि सभी एक साथ बोल रहे हैं। गांधी विचार दर्शन से बड़ा और कोई विचार उनके लिए नहीं है। गांधीवाद से ही बंजर विस्तार हरी-भरी उपत्यकाओं में बदला जा सकता है। 'गांधी पंचशती' की अनेक कविताओं में उन्होंने अपने इस जीवन दर्शन को बार-बार रेखांकित किया है।

"और उत्स तो पड़ा है लगभग खुला गांधी के विचारों का
उस पर पड़ी एक चट्टान को थोड़ी सी शक्ति लगाकर
खिसका भर देना बस कलकल छलछल हो जायेगा सब
हरि भरी उपत्यकाओं में
बदल जायेंगे हमारे देश के बंजर विस्तार।"[151]

भवानीप्रसाद मिश्र ने अत्यंत श्रद्धा से गांधी विचारदर्शन को अपने काव्य का विषय बनाया। गांधी के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है –

"बापू अगले बरस तुम्हार फिर जन्म दिवस आएगा
अगले बरस तुम्हारा चारण गीत तुम्हारे फिर गायेगा।"[152]

आज गांधी के नाम पर समाज में बड़े-बड़े आयोजन किये जाते हैं। बावजूद इसके 2 अक्टूबर को किसी के हृदय में प्रेरणा नहीं मचलती और 30 जनवरी को किसी के हृदय में आक्रोश नहीं फूटता। बापू की समाधि राजघाट महज एक औपचारिकता बन कर रह गई है। गांधी और लोक के बीच सत्ता लोलुप नेताओं ने एक धुंध पैदा कर दी है। भवानीप्रसाद मिश्र इस तथ्य से अपरिचित नहीं है। अपने उद्देश्य को व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं –

"कहने में अर्थ नहीं
कहना पर व्यर्थ नहीं
मिलती है कहने में एक तल्लिनता"[153]

निष्कर्षतः भवानीप्रसाद मिश्र को गांधी के विचारों ने बनाया है। भवानीप्रसाद मिश्र के व्यक्तित्व में सृजन कर्म के प्रति समर्पित निष्ठा के साथ निरन्तर बनी रहने वाली गतिशीलता है। वे एक विशिष्ट जीवन दर्शन के कवि हैं। यह जीवन दर्शन उनके व्यक्तित्व में इतना रच-पच गया है कि उनका पोर-पोर और उनकी कविता का शब्द-शब्द उससे ही हिल-मिलकर रचनात्मकता में ढलने लगा। आजीवन गांधी विचारधारा से सम्बद्ध संस्थाओं में कार्य करने के कारण उनके व्यक्तित्व में यह धारणा प्रोढ़ होती गई कि हमारी अपनी जमीन में पनपी गांधीवादी विचारधारा ही इस देश को नई दिशा और दृष्टि दे सकती है।

पाश्चात्य विचारधारा न तो हमें शांति दे सकती है और न हमारी समस्याओं का समाधान कर सकती है। इस प्रकार गांधी विचारधारा ही उनके चेतन और अवचेतन मन की अखण्ड राशि है।

(घ) भवानीप्रसाद मिश्र का रचना-संसार :

नई कविता के प्रतिष्ठित कवि भवानीप्रसाद मिश्र यद्यपि छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता के युग में लिखते रहे हैं, बावजूद इसके छायावाद की छाया उन पर नहीं पड़ी और न ही प्रगतिवादी विचारधारा से उन्होंने अपना नाता जोड़ा। प्रयोगवाद और नई कविता से वे जुड़े अवश्य हैं, पर उनकी कविताओं में प्रयोगवाद और नई कविता की स्वस्थ प्रवृत्तियाँ ही मिलती है। भवानीप्रसाद मिश्र ने अत्यन्त सहज रूप से अपने रचना संसार का निर्माण किया है। इनका काव्य अनन्त संभावनों का काव्य है। काव्य को जीवन से जोड़ते हुए उन्होंने प्रचलित काव्य भ्रान्तियों को तोड़ दिया। उनकी रचनाओं में सर्वत्र सामाजिक चेतना की उत्कट प्रतिबद्धता और श्रम का उल्लास दृष्टिगोचर होता है। एक संवेदनशील और ईमानदार कवि होने के कारण उनकी रचनाओं में जो विशिष्टता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। "मिश्रजी को कविता स्वयं को अभिव्यक्त करने का साधन लगती है। उनकी हर कविता के भीतर से उनके विचार, उनकी आस्था और उनका व्यक्तित्व झांकता हुआ दिखाई पड़ता है।"[154] स्वयं भवानीप्रसाद मिश्र ने 'बुनी हुई रस्सी' की भूमिका में इसे स्वीकार करते हुए कहा है – "मैं कविता नहीं लिखता, कविता मुझको लिखती है।"[155] भवानीप्रसाद मिश्र के काव्य-संग्रह विविध आयामों का उद्घाटन करते हैं। उनकी प्रसिद्ध काव्य रचनाओं में 'गीतफरोश', 'चकित है दुःख', 'खुशबू के शिलालेख', 'अंधेरी कविताएँ', 'गांधी पंचशती', 'त्रिकाल संध्या' आदि प्रमुख है।

1.गीतफरोश :

किसिम-किसिम के गीतों का संकलन 'गीतफरोश' भवानीप्रसाद मिश्र का प्रथम काव्य संग्रह है। सन् 1930 से 1953 तक की रचनाओं को इसमें स्थान दिया गया है। प्रकृति के प्रति गहन अनुराग, लोक-जीवन, ममता से आपूरित पारिवारिक चित्र, कवि दायित्व का बोध, मानवतावादी दृष्टि और राष्ट्रीय चेतना के अनेक चित्र इन कविताओं में भरे पड़े हैं। कृष्णदत पालीवाल के अनुसार – "नयी कविता के काल में इतनी सशक्त कविताओं का एक साथ संग्रह इससे अच्छा कोई दूसरा तब तक आया भी नहीं था। इसकी बड़ी धूम रही। इस संग्रह में प्रकृति पर इतनी अधिक कविताएँ थी और वे भी नये ढंग की, सतपुड़ा के जंगल, नर्मदा के चित्र, सन्नाटा, आषाढ़, मेघदूत आदि आँखों के सामने तैरने लगे थे। हिन्दी कविता

ने जैसे अपना खोया हुआ रूप यहाँ पा लिया था।"[156] 'शब्दों के महल', 'नये गीत', 'सन्नाटा', 'घर की याद', 'रक्तबीज', 'गीतफरोश', 'सत्यकाम' आदि इस संकलन की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं।

'शब्दों के महल' भूमिका स्वरूप लिखी गई कविता है। इसमें कवि ने शब्दों के सही चुनाव तथा शब्दों की यथार्थता को सपष्ट करते हुए कवि की संवेदनात्मक भावभूमि को उजागर किया है। 'गीतफरोश' इस संकलन की बहुचर्चित एवं सर्वश्रेष्ठ कविता है। इसमें कवि ने अपने स्वाभिमान को भूलाकर कलम बेचने का सौदा करने वाले कलाकारों पर व्यंग्य किया है। व्यवस्था के शिकार लाचार कवि की स्थिति को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करते हुए भवानीप्रसाद मिश्र ने लिखा है –

"है गीत बेचना वैसे बिल्कुल पाप
क्या करूँ मगर लाचार हारकर गीत बेचता हूँ
जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ
मैं किसिम-किसिम के गीत बेचता हूँ"[157]

शिल्प-विधान की दृष्टि से यह गीत बड़े ही अनोखे ढंग से, नाटकीयता, सतर्कता, सम्बोधन शैली और आँचलिकता लिए हुए है। 'गीतफरोश' ने भवानीप्रसाद मिश्र को जनता तक पहुँचाया और उनकी एक पहचान बनायी। कवि की शब्द साधना की साँस-साँस का इतिहास इसमें मौजूद है।

2.चकित है दुःख :

'चकित है दुःख' (1968) भवानीप्रसाद मिश्र का दूसरा काव्य संग्रह है जिसमें कवि ने अपने जीवन के समस्त भावों-अनुभवों के सत्य को प्रस्तुत किया है। इस संग्रह में कवि का स्वर व्यंग्यात्मक और निराशापरक है। लेकिन यहाँ व्यंग्य कठोर और चोट पहुँचाने वाला न होकर करुणामूलक है। इस संग्रह की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें कवि ने जीवन की असाधारणताओं को कुछ इस तरह से गूँथा है कि पाठक या श्रोता उसे केवल कविता की तरह पढ़ना या सुनना भूलकर, अपने भाग्य को अपने सामने खड़ा देखकर मुग्ध चकित और बेचैन हो जाता है। इसमें संग्रहित कविताओं में अभिव्यक्ति के विस्तार के साथ-साथ एक प्रकार की आत्मीयता फूटती है जो हमें कवि की ही तरह अपने भीतर से बाहर निकालकर खड़ा कर देती है। रामेश्वर सिंह कश्यप के अनुसार – "चकित है दुःख में पवित्र पारिवारिक प्रेम, त्याग, आस्था, भारतीयता, नैतिकता, अहं का वयं में विसर्जन आदि का वर्णन है। वर्तमान कविता के विघटित मूल्यों के नक्कारखाने में यह संग्रह तूती की आवाज की तरह

बहुमत में नहीं है, अलग है और इसकी महत्ता इस बात में है कि यह तूती की आवाज है।"[158] संग्रह की प्रथम कविता 'बेचारा वक्त' में स्वस्थ सामाजिकता के दर्शन होते हैं। व्यक्ति समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई है और वह किसी भी परिस्थिति में समाज से अलग नहीं हो सकता है। आत्मकेन्द्रित स्वार्थपूर्ण भावना का विरोध करते हुए भवानीप्रसाद मिश्र कहते हैं –

"समष्टि को जीने से सहने से जीता है आदमी"[159]

महानगरीय जीवन के तनाव, आपसी द्वेष तथा पैसे के लिए अत्याधिक आसक्ति के कारण आज मानव ने मानसिक संदर्भों में अपनी वास्तविकता खो दी है। 'निरापद कोई नहीं है' रचना में भवानीप्रसाद मिश्र ने संत कबीर की भाँति गहरे आक्रोश के साथ व्यंग्य के कड़े प्रहार से इसे स्पष्ट किया है –

"ना निरापद कोई नहीं है,
ठिक आदमकद कोई नहीं है
न मैं न तुम न वे न तुम न मैं न वे !"[160]

'चकित है दुःख' संग्रह की कुछ कविताएँ कवि को मृत्यु के साक्षात्कार और संत्रास का भी बोध कराती है। 'समझता हूँ' कविता में एक चींटे की मौत के माध्यम से कवि ने मृत्यु से साक्षात्कार के अहसास को अभिव्यक्त किया है। निष्कर्षतः आलोच्य संग्रह में कवि ने समग्र जीवन के भोगे हुए सत्य को प्रस्तुत किया है। इस संग्रह की रचनाएँ कवि की गहरी संवेदना की द्योतक हैं और संग्रह के नाम को सार्थकता प्रदान करती हैं।

3.अंधेरी कविताएँ :

सन् 1968 में भारताय ज्ञानपीठ से प्रकाशित भवानीप्रसाद मिश्र के काव्य-संग्रह 'अंधेरी कविताएँ' में 55 कविताएँ संकलित हैं। मृत्यु की पृष्ठभूमि में रचित ये जीवन की उजली कविताएँ हैं जो भवानीप्रसाद मिश्र की आन्तरिक मनः स्थिति का साक्षात्कार कराती हैं। मूर्धन्य समालोचक नामवर सिंह के शब्दों में – "अंधेरी कविताएँ जीवन के उस चरम अनुभव की सहज अभिव्यक्ति हैं, जिसे मृत्यु से साक्षात्कार कहा जा सकता है। इन रचनाओं में न दर्द का सन्निपात है, न निर्वेद की समाप्ति। ये व्यक्ति के स्वीकारवाद या स्वागतवाद से सर्वथा भिन्न है। व्यथा की ऐसी पकी हुई आँच अन्यत्र दुर्लभ है।"[161] सही अर्थों में देखें तो अंधेरी कविताओं में निराशावाद नहीं है। इस संग्रह में 'मनोरथ', 'अपरिहार्य', 'दुःख ने कहा' आदि ऐसी कविताएँ हैं, जिनमें अन्धेरा व निराशा न होकर जीवन की गुढ़ और जटिल

परिस्थितियों से साक्षात्कार है। 'पूर्णमिदम', 'कालपुरुष', 'समय का पहिया', 'मरण के क्षण' आदि इस संग्रह की मानवीय मूल्यों के चिन्तन सम्बन्धी प्रमुख कविताएँ हैं।

'काल पुरुष' कविता में लोक प्रचलित धारणा के अनुसार काल के गाल से कोई बच नहीं सकता पर भवानीप्रसाद मिश्र ने काल को लोक प्रचलित धारणा के प्रतिकूल सर्जक रूप में चित्रित किया है। यह उनकी मौलिक विचारणा का परिचायक है। यह काल-पुरुष अपने 'सृजन पटु हाथों से' बीजों को वृक्षों में और वृक्षों को फिर बीजों में बदलता है। मृत्यु से साक्षात्कार करके कवि ने जीवन के ठोस सत्य को समझा है। वे मृत्यु का साक्षात्कार कर काव्य रचना करने वाले कवि हैं। उनके अनुसार कविता के लिए हवा, किरण, फूल और प्राकृतिक सौन्दर्य की आवश्यकता नहीं है। कविता तो मौत के मुँह में बैठकर भी लिखी जा सकती है। यही कारण है कि भवानीप्रसाद मिश्र को देह का मोह नहीं है। वे तो मरण के वरण के लिए सदा तैयार है –

"शीत से बसंत जितना दूर है
बूंद से है जितना मोती
या कहो दूर है जितना फूल से फल
उतनी ही दूर है अब मेरी देह से आग
आग से राख राख से गंगा जल।"[162]

इस प्रकार आलोच्य संग्रह की कविताएँ निराशा और उदासी के स्थान पर आशा और उल्लास लिए आत्मचिन्तन की कविताएँ हैं। इनके माध्यम से अवसाद और निराशा को धकेलते हुए कवि एक नये संसार में पदार्पण कर अपनी निराशा से मुक्त होने की चेष्टा करता है। अर्थात् अंधेरी कविताएँ आशा, विश्वास और भविष्य की संभावनाएँ लेकर प्रस्तुत हुई है।

4.गांधी पंचशती :

सन् 1969 में प्रकाशित 'गांधी पंचशती' भवानीप्रसाद मिश्र की चौथी काव्यकृति है जिसमें सन् 1930 से 1968 तक की कविताएँ संकलित हैं। इस काव्यसंग्रह में कवि ने गांधी विचारदर्शन को अनेक कोणों और प्रतीकों द्वारा शब्दों के माध्यम से मूर्त्त करने का प्रयास किया है। मानवीय चिन्तन और संवेदनाओं से सम्पृक्त 'गांधी पंचशती' गांधीदर्शन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। भवानीप्रसाद मिश्र ने स्वयं कहा भी है - "गांधीजी के विचार मेरे विचार बनकर के कविता में उतर हैं, जो एक बड़ी बात है।"[163] जहाँ एक ओर आज गांधीदर्शन को युग विशेष के चिन्तन तक सीमित कर उसकी व्यावहारिकता पर प्रश्नचिन्ह

लगा दिया गया है, वहीं भवानीप्रसाद मिश्र गांधीदर्शन को सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण का उपक्रम मानते हैं –

"और उत्स तो पड़ा लगभग खुला गांधी के विचारों का
उस पर पड़ी एक चट्टान को थोड़ी से शक्ति लगाकर
खिसका-भर देना है बस
कलकल छलछल हो जाएगा बस हरि-भरि उपत्यकाओं में
बदल जाएँगे हमारे देश के बंजर विस्तार।"[164]

कवि को अपने देश से आत्मीयता है। विदेशी फैशन, विदेशी विचारों को ग्रहण कर हम अपनी संस्कृति का मूलमंत्र भूलते जा रहे हैं। इस परिस्थिति पर व्यंग्य करते हुए कवि कहते हैं –

"दूर देखना तो हमें आता ही नहीं है
जो कुछ विदेशों से नहीं आता वह हमें भाता ही नहीं है।"[165]

एक देश दूसरे देश पर चढ़ाई करे और आक्रांत देश शत्रु का मुकाबला शस्त्र से नहीं, अहिंसा से करे, 'गांधी पंचशती' में कवि इसे सही मानता है तथा पूर्ण विश्वास के साथ कहता है –

"अगर तुम्हें लड़ना है तो लड़ो, हम नहीं लड़ेंगे।
तुम हमारी सीमा में बढ़ो, हम नहीं बढ़ेंगे।
मगर अपनी सीमा में हम रहेंगे अचल
सहेंगे हम, तुम बरसाओ गोलियाँ"[166]

गांधी पंचशती की अन्तिम दो सौ रचनाएँ 'वचन छाया' शीर्षक के अन्तर्गत संग्रहित हैं, जिन्हें कवि के अनुभूत सत्य का दर्पण कहा जा सकता है। संतोष तिवारी के अनुसार – "ये गांधी के विचारों का नवनीत हैं या यों कहिये कि गांधी दोहन हैं।.....ये अनुभव सम्पन्न रचनाएँ इस संग्रह की मूल्यवान धरोहर हैं।"[167] ये छोटी रचनाएँ, अपने छोटे कलेवर में, विराट् विस्तार तथा अत्याधिक प्रौढ़ता लेकर चली हैं। 'यह वर्षा', 'वर्षा रानी' आदि कतिपय प्रकृतिपरक रचनाएँ भी इस संग्रह में संकलित की गई हैं।

निःसंदेह गांधीवाद और गांधीदर्शन पर आधारित 'गांधी-पंचशती', युग-बोध, भाव बोध एवं नवीन दिशा-बोध की दृष्टि से भवानीप्रसाद मिश्र की एक अद्वितीय रचना है। कवि ने स्वानुभूत तथ्यों को गांधी चिन्तन से आत्मसात् कर उन्हें संवेदना के सर्वोच्च शिखर पर

चढ़ाया है। गांधी विचारदर्शन उन पर आरोपित न होकर उनकी आत्मा के रेशे-रेशे में रचा-बसा है।

5.बुनी हुई रस्सी :

साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत भवानीप्रसाद मिश्र का काव्य-संग्रह 'बुनी हुई रस्सी' सन् 1971 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें कवि ने अनुभवों के स्तरों को सुलझाकर मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त किया है। संग्रह की प्रथम कविता बुनी हुई रस्सी के आधार पर संग्रह का नामकरण हुआ है। भवानीप्रसाद मिश्र का अनुभव है कि रस्सी को उल्टा घुमाकर उसके रेशे अलग-अलग देखे जा सकते हैं, किन्तु कवि ठोस अनुभव के आधार पर कविता में सारे बिखरे रेशों को समेटकर लिखता है –

"कविता को बिखराकर देखने से
सिवा रेशों के क्या दिखता है
लिखने वाला तो
हर बिखरे अनुभव के रेशे को
समेटकर लिखता है।"[168]

संग्रह की समस्त रचनाओं में सहज मानवीय चिन्तन एवं अनुभवों की अभिव्यक्ति है। आत्मविश्लेषण और निर्वैयक्तिकता, जनजीवन से एकाकार, अतिशय बौद्धिकता और विषमताएँ, व्यक्तिवादी चेतना, वर्तमान त्रासदी का चित्रण, श्रम का उल्लास, प्रकृति के प्रति आत्मीयभाव और मृत्यु का साक्षात्कार इस संग्रह के प्रमुख वर्ण्य विषय हैं। संग्रह में संकलित 'सारा शहर' कविता में वर्तमान त्रासदी का संकेत हैं जहाँ मानवता मौत का शिकार हो रही है। ऐसा लगता है जैसे सारा शहर अपनी ही मौत का सपना देख रहा है –

"चारों तरफ चिताएं जल रही है साँय-सन्न हवाएँ चल रही है
होते जा रहे हैं राख की ढेरी बूढे और जवान
बच्चे अपनी कब्रें खोद रहे हैं
और बैठ रहे हैं जा जाकर
अपनी खोदी हुई कब्रों में
अपनी ही खोदी हुई मिट्टी अपने ऊपर समेट रहे हैं।"[169]

'स्वर्ण के उस फूल का' तथा 'सूरज के उजाले को' जैसी कविताओं में कवि का जनजीवन से गहरा परिचय तथा मानवीय दृष्टिकोण लक्षित होता है। 'मुझमें और उनमें'

शीर्षक कविता में उन्होंने अतिशय बौद्धकता को नकारा है। कवि का पूरा व्यक्तित्व इस संग्रह की कविताओं में बोल रहा है।

प्रस्तुत काव्य संग्रह में भवानीप्रसाद मिश्र की कविता का वर्ण-वर्ण जीवन की रागात्मक अनुभूतियों से बंधा है। कवि की इन्हीं विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए कृष्णदत्त पालीवाल ने कहा है – "कविताओं में कवि बाँसूरी की तरह बजता है, नर्मदा की तरह बहता है, पवन की तरह चलता है और पत्ते की लय में बंधकर रचता है। एक आदिम सुगंध के बल पर जीने की जिजीविषा ने कविता में एक ऐसा नाद उत्पन्न कर दिया है, जो मोहता भी है और रीझाता भी।"[170] कवि का यह वैशिष्ट्य उसकी कविता की सहज भाषा के कारण है। 'बुनी हुई रस्सी' का कवि भाव और भाषा की दृष्टि से सहज है इसमें संदेह नहीं। वैचारिक धरातल पर इस संग्रह को मानवीय संवेदना की सफल कृति कहा जा सकता है।

6.खुशबू के शिलालेख :

सन् 1973 में प्रकाशित भवानीप्रसाद मिश्र का चर्चित काव्य-संग्रह 'खुशबू के शिलालेख' कुल 22 कविताओं का संकलन है। 'खुशबू के शिलालेख' इस संग्रह की महत्त्वपूर्ण रचना है जिसपर इस संग्रह का नामकरण हुआ है। कवि ने इस संग्रह में रंग, प्रकाश और सुगन्ध को प्रतीकात्मक रूप में प्रयुक्त किया है। इसमें 'रंग' प्रेम का, 'प्रकाश' चेतना का और 'सुगन्ध' आत्मीयता का प्रतीक है। 'दिशाएँ चार हैं' संग्रह की दूसरी प्रतिनिधि कविता है जिसमें कवि ने अंधकार, कुंठा, पतन, पराजय एवं घुटन भरी रचना करने वाले कवियों को चुनौती दी है। संग्रह की प्रथम कविता 'प्रारम्भिक' कवि के व्यक्तिगत जीवन से परिचय कराती है –

"मैंने साठ वर्ष स्नेह और क्रोध
संग साथ और प्रतिशोध में
रह लिया याने मैंने काफी दुःख
काफी हर्ष काफी स्नेह काफी क्रोध संग-साथ
और प्रतिरोध सह लिया।"[171]

संकलन की लघु रचनाओं में 'पंछीपन' कवि के उन्मुक्त और स्वच्छन्द स्वभाव की परिचायक है। 'पक्के घर पक्के आदमी' कविता में महानगरीय व्यस्त जीवन के बिखराव को सजीवता से प्रस्तुत किया गया है। इस संकलन की अंतिम कविता 'शब्दों के तल्प पर' है। यह समकालीन तमाम हिन्दी कविता का एक सीमा स्तम्भ कही जा सकती है। संतोष

कुमार तिवारी के अनुसार – "संकलन की अन्तिम कविता 'शब्दों के तल्प पर' एक ऐसी ऊँचाई तक हमें ले जाती है 'जिसके आगे राह नहीं'। कवि ध्वनियों के माध्यम से हमें प्रज्ञाशिखर की सीढ़ियों तक ले जाना चाहता है।"[172] कुल मिलाकर खुशबू के शिलालेख में भवानीप्रसाद मिश्र शब्द और लय से परे अर्थवान काव्य के कवि हैं। उनकी सृजन क्षमता यहाँ शिखर पर है। सारांशतः कहा जा सकता है कि 'खुशबू के शिलालेख' भावना वैचारिकता और ध्वनियों के सूक्ष्म अर्थों की त्रिवेणी है।

7.व्यक्तिगत :

भवानीप्रसाद मिश्र द्वारा रचित 'बीमार बिस्तर' की स्वस्थ, जीवंत और सधी हुई प्रसन्न कविताओं का काव्य-संग्रह मार्च 1974 में प्रकाशित हुआ। इन कविताओं में कवि ने नितान्त व्यक्तिगत को आश्चर्यजनक विस्तार दिया है। सामान्यजन से जुड़ी यथार्थ स्थिति, मानव जीवन के प्रति अदम्य आकांक्षा, आस्था, निष्ठा, आशा के साथ ही नीति प्रधान कविताएँ और पारिवारिक चित्र भी इसमें दिखाई देते हैं। काव्य सिद्धान्त सम्बन्धी तथा प्राकृतिपरक कविताओं में मानव और प्रकृति का अन्तरंग समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

भवानीप्रसाद मिश्र मानववादी कवि हैं। मानवीय मूल्यों के प्रति इतनी सजगता और ईमानदारी बहुत कम कवियों में देखने को मिलती है। कवि की दृष्टि में आदमी ही सुन्दरतम, महानतम और कोमलतम है –

"कई बार भूल गया हूँ मैं
यह सहज सत्य कि आदमी
सबसे बड़ा है सबसे कोमल है
सबसे अधिक विचारणीय है।"[173]

भवानीप्रसाद मिश्र जन साधारण के कवि हैं। उनके आलोच्य काव्य-संग्रह की प्रायः सभी रचनाएँ व्यापक अर्थ को लेकर चलती है जिनमें जन सामान्य के प्रति उनकी निष्ठा दृष्टिगोचर होती है। निष्कर्षतः भवानीप्रसाद मिश्र सामाजिक चैतन्य और उससे जुड़ी सामान्य व्यक्ति की आशा-आकांक्षा को 'व्यक्तिगत' के धरातल पर बड़ी बारीकी के साथ उतारने में सफल रहे हैं।

8.अनाम तुम आते हो :

'अनाम तुम आते हो' भवानीप्रसाद भवानीप्रसाद मिश्र का सन् 1976 में प्रकाशित आठ लम्बी कविताओं का संग्रह है। इनमें वैचारिक धरातल पर गहन अध्ययन का क्रम विकसित हुआ है। ये कविताएँ जीवन के कई आयामों को एक साथ समेटकर बोलचाल की

शब्दावली में दूरगामी ध्वन्यार्थ प्रस्तुत करती है। आध्यात्म, आदर्श, व्यवहार या यथार्थ आदि जीवन के विविध पक्ष इन कविताओं की शक्ति है। संग्रह की पहली कविता 'अनाम तुम आते हो' आपातकाल की दुर्दशा और जयप्रकाश-नारायण की भूमिका को रेखांकित करती है। संकलन की एक लम्बी कविता 'दो टुकड़े देश दस टुकड़े जनम दिन' में कवि की पूरी जिंदगी का एक सर्वेक्षण है। इसमें देश विभाजन के पश्चात् भारतवासियों के नैतिक पतन तथा उत्साहहीनता से कवि क्षुब्ध है। वे कहते हैं –

"आजादी का हमारा मसीहा उदास और अकेला हो गया
तोप हो गये कुछ लोग वह माटी का ढेला हो गया"[174]

'रात के ख्याल' शीर्षक कविता भवानीप्रसाद मिश्र के भारतीय चिंतन का प्रमाण देती है। इसमें एक गाँव की शाम और एक शहर की शाम का चित्र प्रस्तुत करते हुए शहरी संस्कृति के विरोध में ग्रामीण जीवन को खड़ा किया गया है। 'पारदर्शी पहाड़' शीर्षक रचना में स्नेह और संगीत के शुभ्र-शिखरों को धरती से उठाकर आसमान तक पहुँचाने की आकांक्षा अभिव्यक्त हुई है। यूं संग्रह की लगभग सभी कविताओं में आध्यात्म चिन्तन धारा को प्रमुख रूप से देखा जा सकता है।

9.परिवर्तन जिए :

सन् 1976 में प्रकाशित 'परिवर्तन जिए' भवानीप्रसाद मिश्र का एक प्रमुख काव्य संग्रह है। दिखने में एक-दूसरी से भिन्न प्रतीत होने वाली इस संग्रह की कविताओं में प्रकाशित परिवर्तन की अदम्य लालसा इन्हें एकसूत्रता में बांधती है। कवि जीवन के हर स्तर के परिवर्तन को जीने का अभिलाषी है क्योंकि परिवर्तन ही जीवन है –

"मेरी वाणी उन तूफानों को गायेगी
जो अभी उठे नहीं हैं और जिन्हें उठना है
इसलिए कि जड़ता नहीं परिवर्तन जिएँ।"[175]

कवि शस्त्रों की होड़ और युद्ध की काली छाया से भयभीत है। वे इस भयावह स्थिति के लिए मानव को ही उत्तरदायी मानते हैं। इस भयावह स्थिति की ओर संकेत करने वाली कविताओं में 'दरिंदा', 'शक्ति से मद', 'प्रेरणा-स्रोत', 'सवाल यह' आदि प्रमुख है। बढ़ती हुई यांत्रिकता, औद्योगिकरण और भौतिकवाद की ओर झुकाव भवानीप्रसाद मिश्र के अन्तर्मन को खिन्न करता है। यंत्रों से घिरकर मानव ने आज अपनी पहचान खो दी है। 'प्रगतिशील', 'लोग जो नहीं जानते', 'विकल्पहीन' आदि इन्हीं भावों को पुष्ट करने वाली रचनाएँ हैं।

समाज की विसंगतियों एवं असमानताओं ने भवानीप्रसाद मिश्र के अन्तर्मन को भीतर तक उद्वेलित किया है । इन रचनाओं में केवल तथाकथित प्रगतिशीलियों पर ही नहीं, सौन्दर्य प्रसाधन और फैशन पर भी व्यंग्य किया है –

"ये डिब्बे पाउडर के, जिनमें दुबारा कुछ नहीं
रखा जा सकता, मुझे बहुत तकलीफ देते हैं।"[176]

आलोच्य काव्य संग्रह का स्वर अन्य काव्य संग्रहों से भिन्न होते हुए भी प्रकृति के प्रति कवि का आत्मीय भाव छुप नहीं सका है 'स्पर्शजन्य', 'आसमान जब', 'आज की सुबह' आदि इस संग्रह की प्रकृतिपरक कविताएँ हैं। निष्कर्षतः इस काव्य संग्रह में मानवीय गरिमा और शालीनता के साथ व्यक्तिगत को सार्वजनिकता देते हुए भवानीप्रसाद मिश्र ने मर्म की बातें प्रस्तुत कर आदर्श स्थितियों के संकल्प व्यक्त किए हैं।

10.इदं न मम :

'इदं न मम' भवानीप्रसाद मिश्र का सन् 1977 में प्रकाशित काव्य संग्रह है जिसमें 98 छोटी कविताएँ संकलित हैं। इस संकलन की कविताएँ मानसिक स्थितियों की संवेदनात्मक अनुभूति है। संग्रह की सभी कविताएँ एक कोमल अनुभूति लिए हमारे सामने आती हैं। इस संग्रह की कुछ कविताओं में प्रकृति के माध्यम से कवि ने अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। प्रकृति का छोटा से छोटा अवयव भी भवानीप्रसाद मिश्र की दृष्टि से छिपा नहीं है। 'शरद्संकोच', 'उदास चाँद स्तब्ध चाँदनी', 'मौसम' आदि इस संग्रह की प्रमुख प्रकृतिपरक रचनाएँ हैं। भवानीप्रसाद मिश्र मृत्यु से कभी नहीं घबराये, वे साहस के साथ उसका अनुभव करते रहे। वे मरण के आगमन पर भी निर्भय होकर उसकी छवि आँकने की हिम्मत रखते हैं –

"जीवन की ऊष्मा की
याद भी बनी है जब तक
तब तक मैं घुटनों में सिर डालकर
नहीं बैठुँगा सिकुड़ा-सिकुड़ा।"[177]

इस संग्रह में 'छन्द यात्रा', 'रात-भर', 'स्पर्श', 'स्वर का शिल्पी', 'विचार का पंछी क्या', 'प्राण' आदि अनेक कविताएँ हैं जो भवानीप्रसाद मिश्र के सृजन की ऊँचाइयों की ओर संकेत करती हैं। इस संग्रह की रचनाएँ वैचारिक धरातल पर चिंतन सें डूबी हुई संवेदनशील मन की अभिव्यक्ति है जो एक ओर यथार्थ तो दूसरी ओर कवि की आस्था को उद्घाटित करती है।

11.त्रिकाल संध्या :

सन् 1978 में प्रकाशित 'त्रिकाल संध्या' की कविताएँ आपातकाल में लिखी गई। भारतीय राजनीति की आपातकालीन स्थिति को लक्ष्य करके ही भवानीप्रसाद मिश्र ने इसका नामकरण 'त्रिकाल संध्या' किया। भवानीप्रसाद मिश्र के अनुसार – "25 जून 1975 से लगभग अठारह महीनों की अवधि देश के इतिहास में 'न भूतो' तो थी ही, 'न भविष्यति' ही रहेगी। इस अवधि का इतिहास कितनी तरह से सारे संसार में संचित, संकीर्ण और विकीर्ण किया जायेगा कौन जानता है। मेरे हाथों यह कविता या कवितानुमा कृतियों में आया सो अनेक कारणों से।"[178] इस संग्रह में कवि ने प्रचण्ड साहस से सत्य स्थितियों को उद्घाटित करते हुए समय को तीखी चुनौती दी है। इन कविताओं की मूल प्रेरणा अन्याय और अत्याचार है। अन्याय चाहे सत्ता द्वारा हो या पूँजीपतियों द्वारा भवानीप्रसाद मिश्र ने अन्याय के खिलाफ आवाज उठाई है।

संग्रह की 'चार कौए उर्फ चार हौए' कविता काफी चर्चित हुई स्वयं भवानीप्रसाद मिश्र ने इसके संदर्भ में लिखा है – "इस कविता ने मेरे ऊपर वैसा ही उपकार किया है, जैसा 'गीतफरोश' ने किया था।"[179] यहाँ चार कौए तत्कालीन प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, संजय गांधी और कांग्रेस के अध्यक्ष (देवकांत बरुवा) के प्रतीक हैं। इस कविता में व्यंग्य की गहराई बड़ी सजगता के साथ प्रस्तुत हुई है –

"बहुत नहीं थे सिर्फ चार कौए थे काले
उन्होंने यह तय किया कि सारे उड़ने वाले
उनके ढंग से उड़ें, रुकें, खाएँ और गाएँ
वे जिनको त्यौंहार कहें, सब उसे मनायें।"[180]

दीपक की भाँति स्वयं जल कर दूसरों को राह दिखाना सच्चे कवि का दायित्व है जिसे भवानीप्रसाद मिश्र ने बखूबी निभाया। उन्हें विश्वास है कि आपातकाल का क्रूर सत्य आज नहीं तो कल जरूर प्रकट होगा। कवि अहिंसा और परिवर्तन की आकांक्षा करते हुए कहते हैं –

"सूरज दिन भर चमककर शाम को डूब जाता है
हर अत्याचारी किसी न किसी क्षण
ऊब जाता है अपने अत्याचारों से"[181]

वस्तुतः कवि ने इस संग्रह में अपने गांधीवादी, अहिंसाप्रेमी, सत्यनिष्ठ और क्षमाशील व्यक्तित्व को पूरी सात्विकता के साथ उजागर किया है। गांधी दर्शन का व्यक्ति अपनी संवेदनशीलता में निश्चित ही सत्य का आग्रही होता है, 'त्रिकाल संध्या' इसका सबूत है।

12.कालजयी :

सन् 1978 में प्रकाशित 'कालजयी' भवानीप्रसाद मिश्र का प्रथम विचार प्रधान खंड काव्य है। इसमें मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हुए कवि ने सम्राट अशोक के जीवन सिद्धान्तों को आधुनिक युग के संदर्भ में आदर्श रूप में प्रस्तुत किया है। इसके सर्गों के शीर्षक अंकुर, विकास, तट, छाया, निर्वाण, आदि एक दूसरे से जुड़े होने पर भी अलग-अलग स्वतंत्र कविता के रूप में दृष्टिगत किये जा सकते हैं।

भवानीप्रसाद मिश्र ने अशोक के नाम से जुड़ी क्रूरता की भावना का इस कृति में खण्डन किया है। विषय की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए कवि ने लिखा है – "वह (अशोक) एक अत्यन्त शक्तिशाली राजवंश की परम्परा में सबसे बड़ा सम्राट हुआ और फिर उसने राजनीतिक महत्ता को भूलकर नैतिक दृष्टि से देश और काल की सीमाओं को लाँघकर मनुष्य मात्र को बनाने-सँवारने का भी प्रयत्न किया। उसकी इतिहास में दूसरी मिसाल नहीं है।"[182] आलोच्य प्रबन्ध में कवि ने कथासूत्रों में इन्हीं विचारों को इस प्रकार पिरोया है कि इतिवृत्त कहीं भी खण्डित नहीं होता। इतिहास के अनुसार कलिंग युद्ध के पश्चात् अशोक का हृदय परिवर्तन हुआ पर भवानीप्रसाद मिश्र के अनुसार प्रेम और करुणा के ये संस्कार अशोक को बचपन में अपनी माता से मिले –

"मुझे जगाया है माता ने, बचपन से इस दिशा में
सो मत रहना पुष्प सेज पर, किसी दुखी की करुणा निशा में।"[183]

'कालजयी' में मंगलकारी मानव मूल्यों की स्थापना हुई है। कथा में व्यक्त मानव मूल्यों के विकास पर विचार करते हुए कृष्णदत्त पालीवाल ने लिखा है – "कथा में व्यक्त मानव मूल्यों का विकास वृक्ष रूप में हुआ है। एक रूपक कवि ने वृक्ष लेकर खड़ा किया है जो समझने पर खुलता है। यह 'बीज', 'अंकुर' विकास पाकर 'वट वृक्ष' बन जाता है। इसी 'वट' वृक्ष की छाया में हर सिद्धार्थ को निर्वाण प्राप्त होता है।" इस वृक्ष का बीज है – संस्कृति।[184] प्रेम, ममता, करुणा, महानता, विश्वबन्धुत्व का भाव प्रसारित करना

'कालजयी' का मूल लक्ष्य है। विश्वयुद्धों की विभिषिका से विचलित कवि ने अपने पात्रों के द्वारा जन-कल्याण का संदेश दिया। यथा –

"युद्ध को कितना दिया अवसर, तनिक सा शांति को दे
आदमी जब से हुआ तब से लड़ा है
किन्तु लड़कर किस दिशा में वह बढ़ा है?"[185]

'कालजयी' में भवानीप्रसाद मिश्र की भाषा की सादगी एवं सरलता को स्पष्ट देखा जा सकता है। इसकी सरलता नई कविता पर किए जानेवाले रस विषयक आक्षेपों का निराकरण करती है। अतः 'कालजयी' को नई कविता की उपलब्धि माना जा सकता है। इसमें भवानीप्रसाद मिश्र गांधी विचारदर्शन की अपनी पात्रता को सम्पूर्ण विश्वास के साथ सिद्ध कर सके हैं।

13.शरीर कविता फसलें और फूल :

'शरीर कविता फसलें और फूल' सन् 1980 में प्रकाशित भवानीप्रसाद मिश्र की सौ से अधिक छोटी कविताओं का संकलन है। कौतूहल से भरी ये कविताएँ कौतूहल को ही जन्म देती है। स्वयं कवि के शब्दों में – "कौतूहल इनका उद्गम है, अब तक की ज्यादातर कविताओं का उद्गम कोई विचार, भाव या घटना होता था। इन कविताओं में कौतूहल कौतूहल को ही उपजाता है।"[186] प्रस्तुत संकलन की कविताओं में कौतूहल का भाव कई जगह विद्यमान है –

"मैं वृक्षों को देख रहा हूँ
क्या वृक्ष भी मुझे देख रहे हैं।"[187]

इस संकलन की कविताओं में कवि व्यष्टि भाव से ऊँचा उठकर समष्टि के बोध तक पहुँच गया है। कवि मानव मात्र में अपनत्व, पारस्परिक प्रेम, सद्भाव का बीजारोपण होता हुआ देखना चाहता है। जीवन में श्रम का प्रतिपादन करते हुए उसे आत्मसात करने की प्रेरणा देकर श्रम-साधना के गीत गाये हैं।

संकलन की 'एक नई पुकार', 'निश्चित विचार से', 'कल और आज', 'मृत्यु का बजरा', आदि मृत्युबोध की कविताओं में भवानीप्रसाद मिश्र के सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन को वाणी मिली है। मृत्यु की होते हुए भी ये कविताएँ जीवन की है। वर्तमान के प्रति आस्था तथा यथार्थ चित्रण इन कविताओं का मूल स्वर है, जो अपने-आप में एक विराट परिदृश्य को अंकित करता है।

14.मानसरोवर दिन :

सन् 1980 में प्रकाशित 'मानसरोवर दिन' भवानीप्रसाद मिश्र की छोटी कविताओं का संग्रह है। युग बोध को नये ढंग से परखने वाली इन कविताओं में जीवन के बीते क्षणों के अनुभव तथा उपेक्षित सत्यों की परछाई स्पष्ट देखी जा सकती है। इस संग्रह की कविताएँ समसामयिक स्थितियों से सच्चा साक्षात्कार कराती है। इनमें जीवन के प्रति निष्ठा का स्वर ध्वनित हुआ है। कवि जीवन में निराशा तथा पलायन से हार नहीं मानते। वे आने वाले हर नये संघर्ष से प्रतिकार करने के लिए शक्तिशाली बने हुए हैं। 'हाय रे चैता', तथा 'आज की टूट-फूट' आदि कविताओं में कवि की कलम आज के जीवन की विसंगतियों पर चली है। 'कोई महाप्राण', 'जैसे भीड़ से वैसे शरीर से', 'यह कल्पना का हल' आदि कविताओं में शरीर बन्धन से मुक्त हो अनन्त में विलीन हो जाने की कामना को अभिव्यक्ति मिली है। गांधी विचारों का प्रभाव भी संग्रह की अनेक कविताओं में देखा जा सकता है। कुल मिलाकर जीवन की वास्तविकता का साक्षात्कार कराने हेतु मिश्र जी ने इस संग्रह की कविताओं में कुछ प्रतीकों के माध्यम से अपनी बात कही है।

15.सम्प्रति :

सन् 1982 में प्रकाशित 'सम्प्रति' शीर्षक काव्य संग्रह में कुल 77 कविताएँ हैं। इसमें संग्रहित कविताएँ चिन्तन की गहराई का स्पर्श कर हमारे अन्तर को ताजगी प्रदान करती हैं। इस संग्रह की पहली और आखिरी कविता का नाम 'संप्रति' है। इनमें पहली बीज है और दूसरी वृक्ष। पहली कविता में कवि अपने भीतर को बाहर के कठिन परिवेशों का एहसास कराना चाहता है तो अन्तिम कविता में बाहर को अपने भीतर समेटना चाहता है। भवानीप्रसाद मिश्र प्रारंभ से ही आस्थावादी हैं अपनी कविता के माध्यम से वे हमें जीने की राह दिखाते हुए साहस बंधाते हैं।

'प्राथमिक' इस संकलन की महत्त्वपूर्ण रचनाओं में से एक है। जिसमें मानववादी रचनाकार भवानीप्रसाद मिश्र ने आदमी बने रहने को ही जीवन की सबसे बड़ी कला माना है। उनका मानना है कि जाति, धर्म, कौम और वर्ग के बन्धनों को तोड़कर सुख-दुख, करुणा, सहानुभूति के साथ आदमीयत निभाकर ही हम अपने को सार्थक सिद्ध कर सकते हैं। व्यवस्था की शिकार देश की वर्तमान स्थितियों, स्वार्थलोलुप सत्ता और शोषण के साम्राज्य को देख कर कवि का हृदय क्षुब्ध है। इस देश को कैसे उबारा जाये इस दुविधा की स्थिति से कवि आतंकित है। यथा

"अब मेरा देश समूचा का समूचा

एक ऐसा जंगल है
जिसमें पंछी नहीं हैं हिरन नहीं हैं
नहीं हैं सांभर चीतल और नीलगाय
दरिन्दे ही दरिन्दे हैं अब इसमें

x x x x

दरिन्दे ही अब सारे के सारे मेरा देश हैं
कैसे जला दूँ समूचे देश को।"[188]

यंत्र के बल पर बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना और वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा मानव के शोषण को मानव प्रगति को कवि अधोगति मानते हैं। उनके अनुसार –

"सुविधाओं के अंबार लगा लेना
सुख या राहत नहीं है भ्रम यह हो सकता है।"[189]

भवानीप्रसाद मिश्र का यह एक अनोखा काव्य संग्रह है जिसमें उन्होंने प्रचलित एवं सरल भाषा-शैली एवं शब्द प्रयोग द्वारा विशिष्ट मनःस्थितियों को उभारने का सफल प्रयास किया है।

16.नीली रेखा तक :

भवानीप्रसाद मिश्र द्वारा रचित 'नीली रेखा तक' शीर्षक काव्य-संग्रह सन् 1984 में प्रकाशित हुआ। मृत्यु और पुनर्जन्म की स्थिति की ओर संकेत करते हुए इस संग्रह की रचनाओं में भवानीप्रसाद मिश्र प्रतिकूलता के बावजूद 'नीली रेखा तक' जाने का संकल्प दुहराते हैं और फिर नीली रेखा के शिखर तक पहुँचना चाहते हैं। मानव मूल्यों के ह्रास के कारण कवि दुखी है। अर्थकेन्द्रित उपभोक्तावाद की संस्कृति, वातावरण की अशुद्धता और स्वार्थलिप्सा समूचे युग को जकड़े हुए हैं। कवि इन सारी परिस्थितियों से क्रान्ति की आग सुलगाना चाहते हैं –

"पीढ़ियाँ पकड़कर कोई चिनगारी
धीरे-धीरे सुलगती है

x x x x

और ज्वाला तब
जला देती है घेर कर भस्म कर देने लायक
सारे तत्त्वों को तपा कर चमका देती है
स्वर्ण-सत्वों को।"[190]

'चिन्तन के क्षण', 'एक याचना', 'तत्त्व दर्शन' आदि इस संग्रह की प्रमुख कविताएँ है। सत्ता से समझौता कर दानवों का यशोगान कर कवि दायित्व के निर्वाह से दूर भागने वाले क्रीतदास कवियों पर शब्द वाण से प्रहार करते हुए कवि कहते हैं –

"ओठों को अपने, किसी न किसी अर्थ में
सिये हुए नहीं रहना चाहिए मुझे
कहीं भी क्यों न रहूँ
कहनी चाहिए मुझे निर्भय अपनी बात।"[191]

युग की बदलती मानसिकता, यांत्रिकता के प्रति झुकाव और तेजी से पनपती उपभोक्तावाद की संस्कृति पर शालीनता से व्यंग्य करते हुए भवानीप्रसाद मिश्र लिखते हैं –

"कोशिश की जा रही है
हमें वस्तुएँ थमाने की
बनाते हुए हमें कोरे उपभोक्ता
मतदान के लिए
ताने गये वितान में।"[192]

कुल मिलाकर इस संग्रह में भवानीप्रसाद मिश्र ने शब्दों की ताकत, शरीर के महत्त्व, यंत्र सभ्यता के कुपरिणाम, उपभोक्तावाद, पर्यावरण प्रदूषण के वातावरण को रेखांकित करते हुए संवेदना-शून्य लोगों की संवेदना को झकझोरने का प्रयास किया है।

17.तुस की आग :

सन् 1985 में प्रकाशित 'तुस की आग' शीर्षक काव्य संग्रह में कुल 70 कविताएँ संग्रहित हैं। इस संग्रह की भूमिका कृष्णदत्त पालीवाल ने लिखी है। इसमें संग्रहित कविताएँ भवानीप्रसाद मिश्र ने अपनी धर्मपत्नी सरला मिश्र को समर्पित की है। इस संग्रह की कविताओं में कवि ने मृत्युबोध, सृजन की सार्थकता, प्रकृति चित्रण, गांधीवादी दृष्टिकोण, यथार्थवादी दृष्टिकोण, आस्था, साहस, व्यंग्यात्मकता आदि प्रमुख आयाम प्रस्तुत किये हैं।

निष्कर्षतः भवानीप्रसाद मिश्र के रचना संसार के विवेचन के आधार पर यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि छायावादोत्तर काल के सर्वाधिक सम्प्रेष्य कवि भवानीप्रसाद मिश्र का रचना-संसार हिन्दी साहित्य के इतिहास में वृहत भी है और महत् भी। 'गीतफरोश' में उन्होंने देश और समाज की सम-सामयिक स्थिति पर व्यंग्य किया है तो 'गांधी पंचशती' में गांधीवाद पर बल देकर आधुनिक पीड़ित जग के लिए उसकी आवश्यकता पर अपनी मान्यता प्रस्तुत की है। 'खुशबू के शिलालेख' में वे राग-रंग से

प्रभावित हैं तो 'त्रिकाल संध्या' में सरकार की दमनात्मक नीति का घोर विरोध करते हुए जनमानस में लोक कवि के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। भवानीप्रसाद मिश्र के सभी काव्य-संग्रहों में गांधीवादी दर्शन का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। 'गीतफरोश', 'चकित है दुःख', 'खुशबू के शिलालेख', 'अनाम तुम आते हो', 'परिवर्तन जिए', 'त्रिकाल संध्या', 'कालजयी' आदि काव्य संग्रहों में गांधीवादी भावना तथा विचारों का सार भरा पड़ा है। 'गांधी पंचशती' के बहाने कवि एक बार फिर हममें गांधीदर्शन की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। सुदीर्घ काव्य-यात्रा के अन्तर्गत अपनी अनुभूति के अनुरूप अभिव्यक्ति देने में वे सफल रहे हैं। जागरूक कवि की जिन्दगी का रेशा-रेशा कविता होता है और कविता का हर रेशा जिन्दगी। भवानीप्रसाद मिश्र का कवि-कर्म इस कसौटी पर सोलह आने खरा उतरता है। उनकी सभी कृतियाँ इस सत्य का प्रमाण है कि उनकी जिन्दगी कविता में डूबी उतराई है। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व बिना किसी लाग-लपेट के उनके कृतित्व में रूपायित हुआ है।

निष्कर्ष :

दुनिया की तमाम विचारधाराओं के उत्तम का संकलन गांधीवाद महात्मा गांधी की विचार पद्धति का व्यापक नाम है। इसके माध्यम से महात्मा गांधी ने समाज, शासन और जीवन के विविध पक्षों के बारे में अपने विचारों को प्रकट किया है। इसमें उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टि को विस्तार देते हुए सत्य, अहिंसा, प्रेम आदि नैतिक मान्यताओं को धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए व्यापक स्तर पर ग्रहण किया। महात्मा गांधी के लिए धर्म, बुद्धि और तर्क का नहीं बल्कि हृदय और अनुभव का विषय है। मानव जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए उन्होंने सच्चे, श्रेष्ठ और आदर्श मानव के गुणों को अपने एकादश व्रत में स्थान दिया, जिनको अपने आचरण में उतारकर मनुष्य अपने जीवन को खुशहाल बना सकता है। वर्ण व्यवस्था के पोषक महात्मा गांधी वंशानुक्रम वर्ण व्यवस्था को नष्ट न कर उसमें परिवर्तन के आकांक्षी थे। वर्ण सम्बन्धी उनकी धारणा वैज्ञानिक और नैतिक है। संसार के सभी धर्मों के प्रति समान निष्ठा की भावना के चलते उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, सिख और ईसाई के भेद को स्वीकार नहीं किया। साम्प्रदायिक भेदभाव को समाप्त कर उन्होंने धार्मिक एकता की स्थापना की। मनुष्य की मूलभूत एकता पर आधारित अपने, सामाजिक सिद्धान्त के माध्यम से उन्होंने समाज में प्रचलित रूढ़ियों का विरोध करते हुए सामाजिक विषमता को दूर करने का प्रयास किया। सवतंत्रता संग्राम में शुद्ध साधनों के हिमायती महात्मा गांधी ने राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता पर बल देते हुए रामराज्य तथा वर्ण, वर्ग, धर्म, जाति से ऊपर उठकर सबके विकास के लिए सर्वोदय की अवधारणा प्रस्तुत की। गाँवों को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने के लिए उन्होंने राजनैतिक विकेन्द्रीकरण के माध्यम से पंचायती राज की स्थापना

पर जोर दिया। राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ आर्थिक स्वतंत्रता को आवश्यक मानने वाले महात्मा गांधी के आर्थिक सिद्धान्त अपने परिवेश के समुचित विचार से निर्मित हैं। उनके आर्थिक सिद्धान्त – हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त, यंत्रनीति, श्रमनीति, कृषि-नीति, ग्रामोद्योग – गाँवों को आत्मनिर्भर बनाकर, शोषण को समाप्त करके और लोगों को रोजगार देकर बिना किसी खून-खराबे के आर्थिक क्षेत्र में समानता स्थापित करने में सक्षम हैं। मन और शरीर की उपेक्षा कर केवल जानकारी का खजाना देने वाली प्रचलित शिक्षा पद्धति के प्रति अपने असंतोष के चलते महात्मा गांधी ने श्रम के गौरव का पाठ पढ़ाकर हस्तशिल्प के माध्यम से दी जाने वाली नई तालीम और भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में बच्चों का शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक विकास करने वाली बुनियादी शिक्षा की अवधारणा को प्रस्तुत किया। इसके साथ-साथ उन्होंने स्त्री के लिए भी शिक्षा को उतनी ही आवश्यक माना जितनी की पुरुषों के लिए। मानवीय मूल्यों के आगार महात्मा गांधी संसार के लोगों को आदर्श मानव के रूप में देखना चाहते थे, इसलिए उन्होंने सत्य, अहिंसा, प्रेम, परोपकार आदि मूल्यों को अपने आचरण में उतारने का आग्रह जनमानस से किया। मूल्यों के प्रति इसी आग्रह ने उनकी दृष्टि को विश्व दृष्टि में परिणत कर दिया। अपने हित-अहित की भावना से ऊपर उठकर उन्होंने सारे विश्व में प्रेम और भाईचारे का संदेश दिया। सारी सृष्टि के कल्याण में ही वे अपना कल्याण देखते थे।

महात्मा गांधी के इन विचारों ने समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य के साथ-साथ हिन्दी साहित्य को भी प्रभावित किया। आधुनिक हिन्दी कविता में द्विवेदी युगीन कवियों से लेकर आद्यतन हिन्दी कवियों ने गांधी दर्शन के अनुरूप सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्याग्रह आदि के महत्त्व को समझा और उन्हें अपनी कविताओं के माध्यम से अभिव्यक्त किया।

आधुनिक हिन्दी काव्य जगत में कवि भवानीप्रसाद मिश्र की पहचान गांधीवादी कवि की है। गांधी के संस्कारों की छाप से उनका सम्पूर्ण कवि व्यक्तित्व रंजित है। गांधीवादी दर्शन के गहन अध्ययन और सम्पर्क से उनका जीवन दर्शन निर्मित हुआ। भवानीप्रसाद मिश्र ने अट्ठारह काव्य-संग्रह और एक खंड काव्य की रचना की है। जीवन के विविध आयामों का उद्घाटन करने वाले इन काव्यों का मूल स्वर गांधीवादी है। उनकी समस्त रचनाएँ किसी न किसी रूप में गांधीवादी दर्शन का अनुकरण करती प्रतीत होती है।

XXXX

संदर्भ ग्रंथ सूची :

[1] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 28-03-1936, पृ. सं.- 49

[2] धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश, भाग एक, ज्ञान मंडल, वाराणसी, संवत - 2016, पृ. सं.- 256-257

[3] महात्मा गांधी, हिन्द स्वराज, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1997, प्रस्तावना, पृ. सं.- 6

[4] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 26-03-1936, पृ. सं.- 93

[5] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 01-06-1921, पृ. सं.- 171

[6] जवाहरलाल नेहरू, डिस्कवरी ऑफ इंडिया, पेंगुइन बुक्स, इंडिया, 2004, पृ. सं.- 317

[7] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 29-08-1936, पृ. सं.- 72

[8] गुलाबराय (संपादक), गांधीय मार्ग, गयाप्रसाद एंड संस, आगरा, 1953, पृ. सं.- 92

[9] रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,1993, पृ. सं.- 550-551

[10] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 25-05-1936, पृ. सं.- 114

[11] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 31-12-1931, पृ. सं.- 428

[12] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 18-08-1927, पृ. सं.- 265

[13] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 07-02-1929, पृ. सं.- 42

[14] महात्मा गांधी, सर्वोदय, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 2011, पृ. सं.- 9

[15] महात्मा गांधी, सर्वोदय, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 2011, पृ. सं.- 10

[16] महात्मा गांधी, सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड - 41, प्रकाशन विभाग, सूचना एंव प्रकाशन मंत्रालय, 1974, पृ. सं.- 192

[17] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 04-06-1925, पृ. सं.- 195

[18] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 04-08-1920, पृ. सं.- 5

[19] किशोरीलाल घ. मशरूवाला, गांधी विचार दोहन, सस्ता साहित्य मंडल, 1967, पृ. सं.- 18

[20] महात्मा गांधी, हरिजन, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 08-06-1947, पृ. सं.- 180

[21] एम. के. गांधी, एन ऑटोबायोग्राफी, ऑर द स्टोरी ऑफ माई एक्सपेरीमेंट्स विद ट्रूथ, भाग – 1, नवजीवन पब्लि. हाउस, अहमदाबाद,1959, पृ. सं.153।

[22] महात्मा गांधी, हरिजन, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद,15-06-1947, पृ. सं.- 192।

[23] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 05-06-1937, पृ. सं.- 134।

[24] महात्मा गांधी, मंगल प्रभात, गांधी बुक सेंटर, मुंबई, 2005, पृ. सं.- 22

[25] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 13-10-1921, पृ. सं.- 323

[26] आर. के. प्रभु, यू. आर. राव(सं), महात्मा गांधी के विचार, नेशनल बुक ट्रस्ट, 2005, पृ. सं.- 296।

[27] एन. के. बोस, स्टडीज इन गांधीज्म, 1947, पृ. सं.- 23।

[28] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 13-10-1921, पृ. सं.- 325।

[29] एम. के. गांधी, फ्रॉम यरवदा मंदिर : आश्रम ऑब्जर्वेसेज, (वी. जी. देसाई द्वारा अनुदित) नवजीवन पब्लि.

हाउस, 1957, पृ. सं.- 35-36।

[30] महात्मा गांधी, मंगल प्रभात, गांधी बुक सेंटर, मुंबई, 2005, पृ. सं.- 59

[31] महात्मा गांधी, मंगल प्रभात, गांधी बुक सेंटर, मुंबई, 2005, पृ. सं.- 59

[32] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 11-12-1933, पृ. सं.- 153

[33] महात्मा गांधी, हिन्द स्वराज,नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद,1997, पृ. सं.- 35-36

[34] महात्मा गांधी, सर्वोदय, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 2011, पृ. सं.- 62

[35] वही, पृ, सं. - 62

[36] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 14-05-1938, पृ. सं. - 112

[37] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 22-09-1927, पृ. सं.- 319

[38] महात्मा गांधी, मेरे सपनों का भारत, राजपाल एंड संस, 2010, पृ. सं.- 217

[39] वही, पृ. सं. - 217

[40] वही, पृ. सं.- 6

[41] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 15-05-1920, पृ. सं.- 2

[42] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 18-06-1925, पृ. सं.- 214

[43] महात्मा गांधी, मेरे सपनों का भारत, राजपाल एंड संस, 2010, पृ. सं.- 87

[44] महात्मा गांधी, सर्वोदय, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, 2011, पृ. सं.- 64

[45] किशोरीलाल घ. मशरूवाला, गांधी विचार दोहन, सस्ता साहित्य मंडल, 1967, पृ. सं.- 26

[46] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 04-05-1921, पृ. सं.- 144

[47] महात्मा गांधी, सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड - 41, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रकाशन मंत्रालय, 1974, पृ. सं.- 192

[48] महात्मा गांधी, सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड - 57, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रकाशन मंत्रालय, 1974, पृ. सं.- 208

[49] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 28-09-1934, पृ. सं.- 258

[50] महात्मा गांधी, हरिजन, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 01-02-1942, पृ. सं.- 27

[51] वही, पृ. सं. - 27

[52] महात्मा गांधी, हरिजन, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 05-05-1946, पृ. सं.- 116

[53] महात्मा गांधी, मेरे सपनों का भारत, राजपाल एंड संस, 2010, पृ. सं.- 15

[54] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 18-06-1925, पृ. सं.- 292

[55] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 11-08-1920, पृ. सं.- 3

[56] साबरमती, फेडरेशन ऑफ इंटरनेशनल फेलोशिप्स की वार्षिक बैठक का प्रतिवेदन, 1929, पृ. सं.- 319

[57] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 15-12-1921, पृ. सं.- 419।

[58] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 18-03-1939, पृ. सं.- 53

[59] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 19-09-1929, पृ. सं.- 305

[60] महात्मा गांधी, सर्वोदय, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 2011 पृ. सं.- 79

[61] महात्मा गांधी, हरिजन, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 17-02-1946, पृ. सं.- 10

[62] महात्मा गांधी, मेरे सपनों का भारत, राजपाल एंड संस, 2010, पृ. सं.- 86

[63] वही, पृ. सं.- 87

[64] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 09-10-1937, पृ. सं.- 292

[65] महात्मा गांधी, सर्वोदय, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 2011, पृ. सं.- 104

[66] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 25-08-1940, पृ. सं.- 260

[67] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 16-12-1939, पृ. सं.- 376

[68] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 17-06-1926, पृ. सं.- 218

[69] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 22-06-1935, पृ. सं.- 146

[70] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 20-08-1925, पृ. सं.- 285

[71] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 25-06-1938, पृ. सं.- 162

[72] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 05-05-1920, पृ. सं.- 6

[73] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 19-12-1936, पृ. सं.- 356

[74] दि बॉम्बे क्रोनिकल, बंबई, 12-1-1945

[75] वही

[76] महात्मा गांधी, मेरे सपनों का भारत, राजपाल एंड संस, 2010,पृ. सं.- 96

[77] महात्मा गांधी, सर्वोदय, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 2011, पृ. सं.- 60

[78] किशोरीलाल.घ.मशरूवाला, गांधी विचार दोहन, सस्ता साहित्य मंडल, 1967, पृ. सं.- 105-106

[79] महात्मा गांधी, हरिजन, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 28-09-1946, पृ. सं.- 226

[80] महात्मा गांधी, सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड - 48, प्रकाशन विभाग, सूचना व प्रकाशन मंत्रालय, 1974, पृ. सं.- 488

[81] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 31-07-1937, पृ. सं.- 197

[82] वही, पृ. सं. - 197

[83] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 01-09-1921, पृ. सं.- 277

[84] महात्मा गांधी, हरिजन, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 02-03-1947, पृ. सं.- 48

[85] वही, 09-10-1937, पृ. सं.- 127

[86] प्रकाश नारायण नाटाणी, महात्मा गांधी जीवन एवं दर्शन, पुनीत प्रकाशन, जयपुर, 2009, पृ. सं.- 69

[87] महात्मा गांधी, मेरे सपनों का भारत, राजपाल एंड संस, 2010, पृ. सं.- 157

[88] वही, पृ. सं.- 159

[89] महात्मा गांधी, हरिजन, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 05-08-1950, पृ. सं.- 195

[90] महात्मा गांधी, मेरे सपनों का भारत,राजपाल एंड संस, 2010, पृ. सं.- 195

[91] जगदीश गुप्त, नई कविता - स्वरूप और समस्याएँ, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1979, पृ. सं.- 12-13

[92] महात्मा गांधी, एन ऑटोबायोग्राफी, ऑर द स्टोरी ऑफ माइ एक्सपेरीमेंट्स विद ट्रूथ, नवजीवन पब्लि. हाउस, अहमदाबाद, 1959, पृ. सं. – xv

[93] महात्मा गांधी, हरिजन, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 05-09-1936, पृ. सं.- 236

[94] महात्मा गांधी, हरिजन, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 30-03-1947, पृ. सं.- 36

[95] महात्मा गांधी, हिन्द स्वराज, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, पृ. सं.- 77-79

[96] सुजाता, गाँधी की नैतिकता, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 2012, पृ. सं.- 43

[97] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 03-04-1924, पृ. सं.- 114

[98] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 26-03-1925, पृ. सं.- 112

[99] वही, 06-05-1926, पृ. सं.- 164

[100] वही, 11-08-1927, पृ. सं.- 253

[101] वही, 27-06-1929, पृ. सं.- 214

[102] महादेव देसाई; एस. गणेशन, गांधीजी इन इंडियन विलेजेज, मद्रास, 1927, पृ. सं.- 171

[103] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 04-04-1929, पृ. सं.- 107

[104] महात्मा गांधी, हरिजन, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 26-05-1946, पृ. सं.- 154

[105] वही, हरिजन सेवक ट्रस्ट, पूना, 17-11-1933, पृ. सं.- 5-6

[106] नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, 1951, पृ. सं. – 25

[107] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, संवत – 2031, पृ. सं. – 53

[108] हरिऔध, वैदेही बनवास, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी, संवत -2025, पृ. सं. -40

[109] मैथिलीशरण गुप्त, द्वापर, साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, संवत – 2025, पृ. सं. – 56

[110] सियारामशरण गुप्त, उन्मुक्त, साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, संवत – 2027, पृ. सं. – 157

[111] मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, साहित्य सदन, चिरगाँव, झांसी, संवत – 2031, पृ. सं. – 117

[112] रामनरेश त्रिपाठी, मिलन, नवभारत प्रकाशन, इलाहाबाद, चौदहवाँ संस्करण, पृ. सं. – 61

[113] सुमित्रानंदन पंत, युगपथ, श्रद्धा के फूल, भारती भंडार, इलाहाबाद, संवत – 2006, पृ. सं. – 72

[114] सुमित्रानंदन पंत, चिदंबरा, पुरुषार्थ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1973, पृ. सं. – 156

[115] माखनलाल चतुर्वेदी, हिमकिरीटिनी, निःशस्त्र सेनानी, प्रथम संस्करण – 1963, पृ. सं. – 94

[116] सोहनलाल द्विवेदी (संपादक), गांधी अभिनन्दन ग्रन्थ, गांधी अभिनन्दन ग्रन्थ कार्यालय, लखनऊ, 1964, पृ. सं. – 22

[117] भगवतीचरण वर्मा, मधुकण, नंदकिशोर एंड संस, वाराणसी, प्रथम संस्करण, पृ. सं. – 53

[118] बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', उर्मिला, अत्तरचंद कपूर एंड संस, दिल्ली, 1957, पृ. सं. – 54

[119] जयशंकर प्रसाद, कामयनी, ईड़ा सर्ग, भारती भंडार, इलाहाबाद, संवत – 2018, पृ सं. – 162

[120] सुमित्रानंदन पंत, ग्राम्या, भारती भंडार, इलाहाबाद, संवत – 2013, पृ सं. – 50

[121] रामधारी सिंह दिनकर, कुरूक्षेत्र, उदयाचल, पटना, 1961, पृ. सं. – 25

[122] नरेन्द्र शर्मा, रक्तचन्दन, भारती भंडार, इलाहाबाद, 1948, पृ. सं. – 13

[123] सोहनलाल द्विवेदी, भैरवी, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, संवत – 1951, पृ. सं. – 72

[124] वही, पृ. सं. – 93

[125] नरेश मेहता, संशय की एक रात, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा. लि., बम्बई, 1962, पृ. सं. – 33

[126] महात्मा गांधी, मेरे सपनों का भारत, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2010, पृ. सं. – 254

[127] सच्चिदानन्द हिरा. वात्स्यायन 'अज्ञेय', हिरोशिमा, सदानिरा भाग – 2, नेशनल पब्लि. हाउस, दिल्ली,1986, पृ. सं. – 65

[128] मलयज, पर्वत सन्ध्या, निकष, संयुक्तांक 3/4, साहित्य भवन प्रा. लि., प्रयाग, जनवरी, 1957, पृ. सं. – 343

[129] शोभाकांत (संपादक), नागार्जुन रचनावली, खण्ड – 2, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2003, पृ. सं. – 23

[130] नागार्जुन, पुरानी जूतियों का कोरस, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2003, पृ. सं. – 37

[131] शिवरंजन (सं), फिर फिर नागार्जुन, शिल्पायन, दिल्ली, 2011, तीनों बंदर बापू के, पृ. सं. – 110

[132] प्रेमशंकर, कविता : रोटी की भूख तक, 'वे सभ्य हैं', पृ. सं. – 14

[133] महात्मा गांधी, यंग इंडिया, अहमदाबाद, 04-05-1921, पृ. सं. – 144

[134] जगदीश गुप्त, शम्बूक, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999, पृ. सं. – 85

[135] www.hindi.mkgandhi.org/gmarg/chap21.htm. date 25 jan, 2014.

[136] विजय बहादुर सिंह (सं), भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली, खण्ड - 1, कवि, अनामिका पब्लि. एंड डिस्ट्री., 2002, पृ. सं. -3

[137] विजय बहादुर सिंह, आज के लोकप्रिय कवि : भवानीप्रसाद मिश्र, राजपाल एंड संस, 1972, पृ. सं. – 3

[138] विजय बहादुर सिंह (सं) भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली, अनामिका पब्लि. एंड डिस्ट्री., 2002, खण्ड - 1, घर की याद, पृ. सं. - 189

[139] विजय बहादुर सिंह, आज के लोकप्रिय कवि : भवानीप्रसाद मिश्र, राजपाल एंड संस, 1972, पृ. सं. – 5

[140] वही, पृ. सं. – 6

[141] वही, पृ. सं. – 6 -7

[142] कृष्णदत्त पालीवाल, भवानीप्रसाद मिश्र का काव्य संसार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. सं. – 94

[143] विजय बहादुर सिंह (सं), भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली, अनामिका पब्लि. एंड डिस्ट्री., 2002, खंण्ड - 1, कवि, पृ. सं. - 13

[144] दिनमान, 6 फरवरी, 1983, पृ. सं. – 46

[145] कृष्णदत्त पालीवाल, भवानीप्रसाद मिश्र का काव्य संसार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. सं. – 9

[146] विजय बहादुर सिंह (सं), भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली, अनामिका पब्लि. एंड डिस्ट्री., 2002, खण्ड - 1, वे तो अपनी राह चल रहे थे (भूमिका), पृ. सं. - xiii

[147] वही, खण्ड - 3, प्रारम्भिक, पृ. सं. - 328

148 विजय बहादुर सिंह, आज के लोकप्रिय कवि : भवानीप्रसाद मिश्र, राजपाल एंड संस, 1972, पृ. सं. – 12

149 विजय बहादुर सिंह (सं), भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली, अनामिका पब्लि. एंड डिस्ट्री., 2002, खण्ड - 1, वे तो अपनी राह चल रहे थे (भूमिका), पृ. सं. - xxxv

150 कृष्णदत्त पालीवाल, भवानीप्रसाद मिश्र का काव्य संसार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. सं. –33

151 विजय बहादुर सिंह (सं), भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली, अनामिका पब्लि. एंड डिस्ट्री., 2002, खण्ड - 3, प्रारम्भिक, पृ. सं. - 328

152 वही, खण्ड - 1, लिखूँ कि कातूँ, पृ. सं. - 202

153 वही, खण्ड - 1, निर्दोष, पृ. सं. - 217

154 प्रभा, भवानीप्रसाद मिश्र और उनका काव्य, के. एल. पचौरी प्रकाशन, गाजियाबाद, 1998, पृ. सं. -47

155 भवानीप्रसाद मिश्र, बुनी हुई रस्सी, भूमिका, सरला प्रकाशन, दिल्ली, 1971, पृ. सं. – 6

156 कृष्णदत्त पालीवाल, भवानीप्रसाद मिश्र का काव्य संसार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. सं. – 60-61

157 विजय बहादुर सिंह (सं), भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली, अनामिका पब्लि. एंड डिस्ट्री., 2002, खण्ड – 1, गीतफरोश, पृ. सं. – 350

158 प्रेमशंकर रघुवंशी (सं), भवानी भाई, प्रतिश्रुति प्रकाशन, कोलकाता, 2014, पृ. सं. – 221

159 विजय बहादुर सिंह (सं), भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली, अनामिका पब्लि. एंड डिस्ट्री., 2002, खण्ड – 2, अदेय यह सपना, पृ. सं. – 156

160 वही, खण्ड – 2, निरापद कोई नहीं है, पृ. सं. – 223

161 नामवर सिंह, आलेख, अगस्त – 1974, पृ. सं. - 4-5

162 विजय बहादुर सिंह (सं), भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली, अनामिका पब्लि. एंड डिस्ट्री., 2002, खण्ड – 3, अनुमानत, पृ. सं. – 102

163 नई दुनिया, 25 फरवरी, 1972, पृ. सं. - 18

164 विजय बहादुर सिंह (सं), भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली, अनामिका पब्लि. एंड डिस्ट्री., 2002, खण्ड – 3, प्रारम्भिक, पृ. सं. – 331

165 वही, खण्ड – 3, पृ. सं. – 328

166 वही, खण्ड – 2, युद्ध का बाजा, पृ. सं. – 92

167 संतोष कुमार तिवारी, भवानीप्रसाद मिश्र का काव्य संवेदना और शिल्प, भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली, 2006, पृ. सं. – 74

168 विजय बहादुर सिंह (सं), भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली, अनामिका पब्लि. एंड डिस्ट्री., 2002, खण्ड – 3, बुनी हुई रस्सी, पृ. सं. – 46

169 वही, खण्ड – 3, सारा शहर, पृ. सं. – 466

170 कृष्णदत्त पालीवाल, भवानीप्रसाद मिश्र का काव्य संसार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. सं. – 83

171 विजय बहादुर सिंह (सं), भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली, अनामिका पब्लि. एंड डिस्ट्री., 2002, खण्ड – 4,

प्रारंभिक, पृ. सं. – 160

172 संतोष कुमार तिवारी, भवानीप्रसाद मिश्र का काव्य संवेदना और शिल्प, भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली, 2006, पृ. सं. – 103

173 विजय बहादुर सिंह (सं), भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली, अनामिका पब्लि. एंड डिस्ट्री., 2002, खण्ड – 3, मैं जानता हूँ, पृ. सं. – 425

174 वही, खण्ड – 5, दो टुकड़े देस दस टुकड़े जनम-दिन, पृ. सं. – 178

175 वही, खण्ड – 4, परिवर्तन के लिए, पृ. सं. – 416

176 वही, खण्ड – 5, ये डिब्बे, पृ. सं. - 114

177 वही, खण्ड – 5, तुम्हारी छाया में, पृ. सं. - 447

178 वही, खण्ड – 8, त्रिकाल सन्ध्या, पृ. सं. – 111

179 वही, खण्ड – 8, त्रिकाल सन्ध्या, पृ. सं. - 114

180 वही, खण्ड – 8, त्रिकाल सन्ध्या, पृ. सं. - 114

181 वही, खण्ड – 4, काल पुरूष, पृ. सं. – 450

182 भवानीप्रसाद मिश्र, कालजयी, भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ, 1978, भूमिका

183 विजय बहादुर सिंह (सं), भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली, अनामिका पब्लि. एंड डिस्ट्री., 2002, खण्ड – 6, कालजयी, पृ. सं. – 247

184 कृष्णदत्त पालीवाल, भवानीप्रसाद मिश्र का काव्य संसार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. सं. – 137

185 विजय बहादुर सिंह (सं), भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली, अनामिका पब्लि. एंड डिस्ट्री., 2002, खण्ड – 6, कालजयी, पृ. सं. – 265

186 भवानीप्रसाद मिश्र, शरीर कविता फसलें और फूल, पश्यन्ती प्रकाशन, मेरठ, 1980, आवरण पृष्ठ

187 विजय बहादुर सिंह (सं), भवानीप्रसाद मिश्र रचनावली, अनामिका पब्लि. एंड डिस्ट्री., 2002, खण्ड – 6, दर्शन-प्रश्न, पृ. सं. - 371

188 वही, खण्ड – 2, जवाहर-ज्योति, पृ. सं. – 408

189 वही, खण्ड – 7, निरानंद, पृ. सं. - 60

190 वही, खण्ड – 7, क्रान्ति क्रम, पृ. सं. - 249

191 वही, खण्ड - 7, काला उजाला, पृ. सं. – 218

192 वही, खण्ड - 7, कोरे उपभोक्ता, पृ. सं. – 234

xxxx